

साहित्य और कला

डा० सुरद्वारीलाल शर्मा



हिन्दी साहित्य सम्मेलन
प्रयाग

साहित्य और कला

[साहित्य और कला विषयक बारह निबन्धों का संग्रह]

लेखक

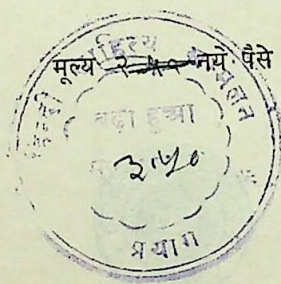
डॉ० हरद्वारीलाल शर्मा



१८८० शक

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

प्रथमावृत्ति १०००



सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

प्रकाशकीय

मानव-विकास के इतिहास का मूल स्रोत साहित्य और कला है, साहित्य और कला एक दूसरे के पूरक हैं। हम जो कुछ सोचते हैं, अनुभव करते हैं, हमारी जो अनुभूतियाँ हैं, उनका जितना भाग शब्द और अर्थ के माध्यम से 'शरीरी' होता है, उतना साहित्य बनता है। और अनुभूति-गम्य होते हुए भी जो भाग अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं कर पाता है, शब्द के समीप तक भी नहीं पहुँच पाता है, केवल ध्वनि, गति, रेखा और रंग के माध्यम से ही व्यक्त हो पाता है, वही अभिव्यक्त भाग कला के नाम से अभिहित होता है।

कला और साहित्य की उपज मानव प्रकृति से ही हुआ करती है। कला में शब्दों के माध्यम से व्यक्त होने वाला बुद्धि-ग्राह्य अर्थ नहीं होता है बल्कि मनोग्राह्य अभिप्राय होता है। जो देखने मात्र से ही हृदय में रस की सृष्टि का नूतन स्पन्दन भर देने की क्षमता रखता है। साहित्य अपने अर्थालोक द्वारा कला की भावना को बुद्धिगम्य स्फुटता प्रदान करता है और कला अपने प्रभाव द्वारा अर्थ को भावनामय बनाती है। कला और साहित्य के इस साहचर्य को मानव-विकास का इतिहास बतलाता है।

इन्हीं अभिप्रेतों को लेकर मनीषी लेखक ने साहित्य और कला का एक साथ विवेचन इस पुस्तक में किया है। विषय-विवेचन और भाव-विश्लेषण की दृष्टि से यह पुस्तक साहित्य और कला का मर्म व्यक्त करने में अत्यधिक सफल है। विश्वास है, साहित्यकारों, कला-प्रेमियों तथा हिन्दी पाठकों को इस पुस्तक से साहित्य और कला की आत्मा का यथार्थ ज्ञान प्राप्त होगा।

प्रस्तावना

मानव अभिव्यक्ति के अनेक रूप हैं : समाज, सभ्यता, धर्म, संस्कृति, इत्यादि। इनमें से कुछ अभिव्यक्तियाँ व्यवहार और जीवन की सुव्यवस्था के लिए उपयोगी होती हैं, अन्य ऐसी कि जिनका प्रधान लक्ष्य आत्म-संस्कार और आत्म-विकास होता है। साहित्य और कला इसी प्रकार की मानव अभिव्यक्तियाँ हैं जो उपयोग और व्यवहार की दृष्टि से नगण्य होती हुई भी अपना मूल्य और महत्त्व रखती हैं। एक भावपूर्ण कविता या राग, ललित नृत्य या अभिनय, मूर्ति, स्तूप या सजे हुए पात्र, वस्त्र, भित्ति या चित्र को लीजिए। जीवन की आवश्यकताएँ इनके बिना पूरी हो सकती हैं, किन्तु अपने शरीर और आत्मा की शक्ति के कारण मनुष्य जिस वैभव और उल्लास का अधिकारी हो सकता है वह बिना इनके सम्भव नहीं है। साहित्य और कला से जो रस या आनन्द का लाभ होता है, मनुष्य का उस पर सहज अधिकार है।

मनुष्य का 'रस' पर सहज अधिकार है; इतना ही नहीं, साहित्य और कला उसके लिए आत्माभिव्यक्ति के सहज द्वार भी हैं। अभी हमने 'सृजन' के सुख को कोई नाम नहीं दिया है, न जाने क्यों ? किन्तु कला और साहित्य में सृजन की व्यापक प्रेरणा को देखकर यह समझ में आता है कि रसिक की रसानुभूति की भाँति ही कलाकार और साहित्यकार भी 'सृजन' की प्रबल सुखानुभूति का उपभोग करते हैं। यदि ऐसा न होता तो गायक क्यों वर्षों तक स्वर-साधना करता, कवि अपने हृदय में गर्भ की नाई कविता को लिये

हुए अर्द्ध-निमीलित नेत्रों से, सावधान पद-गति के साथ विचरण करता। इस तपश्चर्या के पीछे अवश्य ही कोई व्यापक प्रेरणा रहती है और 'सृजन' के विशेष सुख की सम्भावना।

साहित्य और कला मानव-मूल्यों का वह निधान है जो उपयोग-शून्य होते हुए भी अपना सहज महत्त्व रखता है। इससे मानवता का विकास और समृद्धि हुई है। यह 'विकास' का मापदण्ड भी है। न केवल इतना, इसके द्वारा सभ्यता, धर्म और संस्कृति आदि दूसरी मानव-अभिव्यक्तियाँ भी समृद्ध और परिष्कृत हुई हैं। इसने इन्हें साधुर्य, लय, गति, सौकुमार्य और कमनीयता का वरदान देकर ग्राह्य और चिर-जीवी बनाया है। संक्षेप में, एक संकुचित दृष्टि से अनुपयोगी होते हुए भी मानव-विकास के इतिहास में, साहित्य और कला अपना स्थान रखते हैं।

इन दोनों में क्या सम्बन्ध है? हमारी अनुभूति का सारा अन्तःप्रदेश मुखर या शब्दार्थमय नहीं होता। जितना भाग शब्दार्थ के माध्यम से 'शरीरी' होता है, उतना 'साहित्य' बन जाता है। किन्तु इसका एक बड़ा भाग अनुभूति-गम्य होते हुए भी 'अर्थ' (Meaning) की स्पष्टता को नहीं पहुँचता; उसके लिए हमारे पास 'शब्द' की कमी रह जाती है। यह अन्तःप्रदेश का वह भाग है जो ध्वनि, गति, रंग, रेखा आदि के माध्यम से व्यक्त होता है। इन्हीं अभिव्यक्तियों का नाम 'कला' है। वस्तुतः मनुष्य की अखिल सत्ता अनन्त और अमेय है : इस सत्ता में अनुभूति का प्रदेश भी है जो परिचित और परिमित है किन्तु स्पष्ट है। परन्तु इस अनुभूति के मूल में एक अज्ञात, अपरिमित चेतना (या, अचेतन=Unconscious) का लोक है जहाँ से इसका उदय स्फुल्लिंगों के रूप में होता है। यह अपरिमित चेतना का लोक हमारी सम्पूर्ण सत्ता का अंग है। इसी मूल-स्रोत से चेतना के कुछ कण 'अनुभूति' बन कर उठते हैं। यह अविज्ञेय और अमेय है। उपनिषत्कारों ने इसके स्वरूप का विशदीकरण किया है। 'अनुभूति' का रूप धारण करके चेतना

अनेक उपकरणों से मूर्त होती है। कला अनुभूति या चेतना का मूर्त रूप है। साहित्य इसी की शब्दार्थमयी अभिव्यक्ति है।

‘शरीरी’ होने या अंकुरित होने की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। इसी का नाम ‘प्रकृति’ या ‘स्वभाव’ है। कला और साहित्य इसी की उपज हैं: अन्तर केवल इतना ही है कि कला में बुद्धिग्राह्य ‘अर्थ’ नहीं होता जो शब्दों में व्यक्त किया जा सके, जैसे, हम एक ‘राग’ (Melody) के सम्पूर्ण ‘रस’ को कोश के शब्दों में नहीं रख सकते। किन्तु कला में मनोग्राह्य ‘अभिप्राय’ होता है जो ‘समझ’ में न आने पर भी हृदय को रस से आप्लावित कर देता है। इस ‘अन्तर’ के होने पर भी, कला और साहित्य में साम्य और साहचर्य बहुत है। दोनों में ‘विन्यास’ के नियम वही हैं। अङ्गाङ्गीभाव, सन्तुलन, भार-साम्य, गति, आरोह-अवरोह आदि सौन्दर्य के नियम दोनों में समान रूप से लागू होते हैं। संक्षेप में, सौन्दर्य का आदर्श दोनों को समान रूप से मान्य होता है। इतना ही नहीं, कला का हृदय-ग्राह्य ‘अभिप्राय’ और साहित्य का बुद्धिग्राह्य ‘अर्थ’, दोनों भी उत्तम अभिव्यक्ति में मिल जाते हैं। कला ने अपने ‘अभिप्राय’ को थोड़ा स्पष्ट बनाने के लिये ‘अर्थ’ का सहारा लिया है, जैसे, संगीत से आगे चल कर ‘गीत’ का उदय होता है। शुद्ध संगीत में ‘अर्थ’ अनावश्यक है, किन्तु ‘गीत’ में संगीत का अभिप्राय और अर्थ की स्फुटता दोनों रहते हैं। इसी प्रकार काव्य में कला और साहित्य दोनों का साहचर्य रहता है। कला अपने प्रभाव द्वारा ‘अर्थ’ को भावनामय (Emotionalization) बनाती है, और, साहित्य अपने अर्थालोक द्वारा कला की भावना को बुद्धिगम्य स्फुटता (Intellectual clarity) प्रदान करता है। इतिहास दोनों के सहभाव और साहचर्य का साक्षी है।

साहित्य और कला के इस सम्बन्ध के विचार से प्रस्तुत पुस्तक में दोनों एक साथ आ गये हैं। एक ही प्रवृत्ति की उपज होने के कारण ये दोनों सहोदर हैं। किन्तु इन दोनों की स्वतंत्र सत्ता भी है—यह हमें न भूलना चाहिए।

प्रस्तुत पुस्तक में आठ निबन्ध साहित्यिक विषयों पर हैं, चार कला पर। दोनों की मूल मान्यताओं में सादृश्य के कारण इनमें इतना पार्थक्य भी कहीं-कहीं नहीं हो पाया है। इन्हें अलग रखने के लिये कोई सावधानी भी नहीं वर्ती गयी है। इन निबन्धों में से कुछ विभिन्न पत्रिकाओं में सन् १९५३ से लेकर आज तक प्रकाशित भी हो चुके हैं। समय की गति से सम्भव है कहीं विचारों में परस्पर 'अन्वय' का भी अभाव हो। सुशुचि-सम्पन्न पाठक से इसके लिए लेखक क्षमार्थी है।

निबन्ध-संग्रह को 'पुस्तक' कहना कहाँ तक उचित है? अवश्य हो, निबन्ध स्वतंत्र होता है जब कि एक पुस्तक में एक ही विषय को लेकर आमूल-चूल एक ही निबन्ध होना चाहिए। ऐसा यहाँ नहीं हो सका। किन्तु 'साहित्य और कला' इतना बृहद् विषय है कि उसका सम्पूर्ण विस्तार एक पुस्तक में नहीं आ सकता। अतः इसके कुछ पार्श्वों को विभिन्न निबन्धों द्वारा व्यक्त करना भी बुरा नहीं है। स्वतंत्र निबन्ध लेने से एक ही विषय के क्रम की परवशता इसमें नहीं रहती। इन निबन्धों को पुस्तकाकार बनाने में यही उद्देश्य सम्मुख रक्खा गया है। सम्भव है यह उद्देश्य ऊँचा न हो।

ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे विचारों में 'एकान्तता' बहुत है। साहित्य और कला के ऊपर भी या तो हम एकदम रूढ़िवादी हैं या एकदम 'आधुनिक'। हमें समझना चाहिए कि ये किसी प्रवाह के दो तट हैं। हमारी आवश्यकता आज विचारों के प्रवाह का बनाना है, तट पर खड़े रह कर एक दूसरे में दोष-दर्शन करना नहीं। अलंकार और रस की परम्पराएँ भारतीय साहित्य-मीमांसा के अंग हैं, किन्तु इनका एकदम त्याग या एकान्ततः ग्रहण, दोनों ही ठीक नहीं। विज्ञान और विचार के नूतन आविष्कारों ने विश्लेषण के लिये अद्भुत साधन हमें प्रदान किये हैं। उधर साहित्य-मीमांसा तट पर ही खड़ी देखती रही, साहित्य-सृजन का प्रवाह अपूर्व निधियों को लिये आगे बढ़ गया। जीवन के बाह्य और आभ्यन्तरिक

प्रदेशों में भी अप्रत्याशित परिवर्तन हो गये हैं। आज रूढ़िवाद में ग्रस्त रहना मानो 'इतिहास' की ओर से आँखें मूंद लेना है, और, एकान्ततः 'नूतन' को अपनाना इतिहास का निषेध करना है। ये दोनों बातें अनुचित हैं।

प्रस्तुत निबन्ध-संग्रह में साहित्य और कला के क्षेत्र में इतिहास के 'गत' और 'अनागत' पक्षों को 'वर्तमान' की सन्धि पर जोड़ने का प्रयत्न है। उद्देश्य बड़ा है, प्रयत्न उतना नहीं है। यह बात हर एक पाठक को इसमें खटकेगी। किन्तु लेखक अपनी सीमाओं से परिचित है; इसलिए उसके दोष उसके अध्ययन और विचार की विवशताएँ हैं। इन विवशताओं के लिए वह नम्रतापूर्वक क्षमाप्रार्थी है।

—लेखक

विषय-सूची

१. साहित्य-शास्त्र	१
२. साहित्य की पृष्ठ-भूमि	११
३. साहित्य में सौन्दर्य-तत्त्व	१७
४. अलंकार—एक भयंकर भ्रान्ति	३६
५. रसवाद की संकीर्णता	५०
६. भारतीय रस-मीमांसा और स्थायी भाव	६०
७. काम और शृङ्गार रस	६६
८. कला-मीमांसा के मूलाधार	८८
९. कला-मीमांसा के लिए ऐतिहासिक दृष्टिकोण	१०१
१०. भारतीय सौन्दर्य-शास्त्र और आधुनिक कला	११४
११. सौन्दर्य-तत्त्व और आलोचना के मानदण्डों का विकास	१२४
१२. अर्थ और अभिप्राय	१४१

साहित्य-शास्त्र

किसी शास्त्र की सम्भावना के लिए आवश्यक है कि उसका विषय एवं क्षेत्र निश्चित हो, उद्देश्य स्पष्ट एवं महत्वपूर्ण हो तथा उसमें अध्ययन एवं शोध की प्रणाली उपयुक्त हो। निश्चित विषय, स्पष्ट उद्देश्य और विशिष्ट पद्धति के होने पर मनन की क्रिया भी व्यवस्थित हो जाती है, और व्यवस्थित मनन से 'शास्त्र' की उत्पत्ति होती है।

इस दृष्टि से 'साहित्य-शास्त्र' की क्या सम्भावना है? क्या तर्क-शास्त्र, नीति, दर्शन या इतिहास आदि की भाँति, साहित्य पर व्यवस्थित, शास्त्रीय शैली से मीमांसा करना उचित या उपयुक्त नहीं है? वस्तुतः जब से 'विवेचन' प्रारम्भ हुआ तभी से मनुष्य द्वारा साहित्यिक कृतियों की आलोचना भी प्रारम्भ हुई। यूनान में काव्य एवं नाटकों के ऊपर विचार और विवाद करना 'पाण्डित्य' (Sophism) का लक्षण समझा जाता था। अरस्तु ने उसे प्रोजोडी (Prosody) नाम देकर प्रमुख एवं पृथक् स्थान दिया। हमारे देश में इसका प्रारम्भ भरत के नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत हुआ। भरत का मूल-विचार यह था कि नाट्य जगत् एवं जीवन का 'अनुकरण' है। इसमें सब कुछ है क्योंकि यह सही अर्थ में पूर्ण 'अनुकृति' है। यह मनोरञ्जन का उदार साधन है। इस अनुकृति में नृत्य, नृत्त, अभिनय, संगीत (वाद्य, गायन आदि) स्थापत्य, चित्र आदि सभी कलाओं का समाहार है। साहित्य इसी नाट्य-सृष्टि की वस्तु है। इस प्रकार नाट्यशास्त्र के विवेचन में 'साहित्य' का स्थान गौण रहा, और इसका उद्देश्य संकुचित। इसके बाद साहित्य के एक-एक अङ्ग और समस्या को लेकर मनन प्रारम्भ हुआ जिसके फल-स्वरूप रीति, गुण, अलंकार, रस, ध्वनि आदि विषयों पर संस्कृत में

अमर कृतियों की रचना हुई। काव्य प्रकाश, साहित्य-दर्पण, काव्य मीमांसा, रस-गंगाधर साहित्य विषय पर उत्तम पाठ्य-ग्रन्थ विद्यार्थी एवं विद्वानों को लक्ष्य कर लिखे गये। इस समय इसका नाम अलंकार शास्त्र रहा। हिन्दी में इन्हीं ग्रन्थों की छाया उतरी। उधर पाश्चात्य देशों के सम्पर्क से हमें साहित्य-समीक्षा के ऊपर मूल्यवान् विचारों की निधि मिली। निश्चय ही वे विचार वहाँ के इतिहास-विकास की उपज हैं।

प्रश्न यह है कि आज के विस्तृत एवं विकसित जीवन के स्तर पर न तो हम अपने 'पुरातन' अलंकार-शास्त्र के आधार पर विद्यमान साहित्य की गतिविधि को समझ सकते हैं, और न विदेशों से विचारों के 'आयात' पर हम उपयुक्त मीमांसा का निर्माण कर सकते हैं। तब हम अपनी प्राचीन संस्कृति और परम्पराओं के अनुरूप तथा नवीन परिस्थितियों को पूर्णतया स्वीकार करके विकासोन्मुखी विवेचना का प्रारम्भ कैसे करें? प्रारम्भ हो चुका है, किन्तु प्रतीत होता है कि अभी हम या तो एक ओर 'पश्चिमी' किनारे पर हैं, और अपनी संस्कृति व इतिहास के बाहरी मापदण्डों से साहित्य का मूल्याङ्कन करना चाहते हैं, या, हम 'पूर्वी' किनारे पर हैं, और रूढ़ि की जड़ शृंखलाओं में जीवन की अभिनव स्फूर्तियों को जकड़ देना चाहते हैं। दोनों किनारे बन गये हैं। हम पुल बना कर इधर से उधर जा सकते हैं। किन्तु हमें 'पुल' बनाना अभीष्ट नहीं है; अभीष्ट है दोनों के बीच में 'प्रवाह' का बहाना। इसके लिए आवश्यक है कि हम साहित्य का अध्ययन एक शास्त्र के रूप में प्रारम्भ करें, और, इसके विषय, क्षेत्र, परिधि, समस्या, गवेषण-विधि, उद्देश्य, आदर्श, संकल्पनाओं का स्पष्टीकरण, मूल-सिद्धान्तों का प्रतिपादन आदि प्रारम्भ करें। संक्षेप में, अन्य शास्त्रों की भाँति ही मानव-चेतना की उस अभिव्यक्ति का अध्ययन प्रारम्भ हो जिसे भारतीय विचारकों ने 'साहित्य' का सार्थक व सोद्देश्य नाम दिया है।

(२)

साहित्य-शास्त्र का विषय क्या होगा? यों तो जहाँ तक वाणी का विस्तार है वहाँ तक साहित्य का भी विस्तार है। किन्तु शब्दों के सभी

प्रयोग 'साहित्यिक' नहीं कहे जा सकते। साधारण व्यवहार चलाने के लिए या ज्ञान सम्पादन के लिए भाषा का उपयोग है ही। किसी भाषा का लिखित या अलिखित संचय 'वाङ्मय' कहा जा सकता है। साहित्य इस 'वाङ्मय' का वह अंश है जो साहित्यकार की मानव-चेतना को शब्दार्थ के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। यों तो हम पुष्प का वर्णन कर सकते हैं, उसकी पंखड़ियाँ गिना सकते हैं। किन्तु यह वर्णन 'विज्ञान' हो सकता है, साहित्य नहीं। यह साहित्य उसी दशा में होगा जब यह प्रेक्षक की 'अनुभूति' का, उस पुष्प को देखने से उत्थित उल्लास आदि का, सजीव, सत्य एवं मधुर चित्रण हो। प्रश्न है : साहित्य-शास्त्र का प्रथम और प्रमुख कार्य वाङ्मय के विस्तार में से 'साहित्य' का स्वरूप-निरूपण करना है। वह कैसे करे ?

साहित्य-शास्त्र का विषय 'साहित्य' का पर्यालोचन है। अनेक समस्याएँ इस पर्यालोचन से उठती हैं। जैसे, साहित्य-सृजन की समस्या। इस प्रश्न पर भी विचार कई दृष्टिकोणों से सम्भव है। सृजन एक मानसिक घटना है। सृष्टा के व्यक्तित्व से इसका उदय होता है। हम वैज्ञानिक विधि से इस 'घटना' का अध्ययन कर सकते हैं। मनोविज्ञान का आधुनिक विकास मन के अनेक अन्तर्दोशों को प्रकाशित कर रहा है। हम इस विकास से लाभ उठाकर सृजन की क्रिया को स्पष्ट कर सकते हैं। अभी तक 'प्रतिभा' को हम 'रहस्य' मानते हैं। मनोविज्ञान इस रहस्य का उद्घाटन तो नहीं कर सका, किन्तु यह निश्चय है कि मन का गम्भीर अध्ययन इस प्रश्न को अन्ततः सुलझा सकेगा। इसी प्रकार कल्पना, स्मृति, प्रवृत्ति, व्यक्तित्व आदि के स्पष्ट विचारों से हम 'सृजन' को कभी अवश्य समझ सकेंगे। दूसरी ओर 'सृजन' का सम्बन्ध समाज एवं उसकी परिस्थितियों से है। साहित्य-सृजन एक ऐतिहासिक घटना है जिसके पीछे सभ्यता एवं संस्कृति, नैतिक आदर्श एवं धर्म-भावना, राजनीतिक व्यवस्था एवं आर्थिक स्थिति आदि सभी का योग रहता है। साहित्य को जो अभिव्यंग्य सामग्री मिलती है वह व्यक्ति की 'अनुभूति' होते हुए भी समष्टि-चेतना से उदित होती है। ऐतिहासिक दृष्टि से 'सृजन' अध्ययन का उपयोगी विषय है। इसी प्रकार आध्यात्मिक

दृष्टि से भी सृजन की मीमांसा होनी चाहिए। वह कौन प्रेरणा है, या, वे कौन-सी प्रेरणाएँ हैं जिनसे साहित्य का उदय होता है? संक्षेप में, साहित्य-सृजन साहित्य-शास्त्र की विवेचनीय समस्या है।

सृजन के लिए उपकरण चाहिए। शब्द और अर्थ, इन दो संपृक्त माध्यमों से साहित्य का कलेवर सम्पन्न होता है। शब्द भाषा की उपज है। भाषा का अध्ययन साहित्य-शास्त्र का उपयोगी विषय है। इसका अध्ययन यों तो कई दृष्टियों से सम्भव है, पर साहित्यिक दृष्टि से भाषा का अध्ययन शब्द-शक्ति के विचार से प्रारम्भ होता है। शब्द में अपनी शक्ति भी होती है; अपने माध्यम से अर्थ को 'प्रक्षेप' करने, या, कहिए अर्थ-सृजन करने की शक्ति होती है, और, इसमें अर्थ द्वारा जनित प्रकाश को विखेरने की भी शक्ति है। शब्द का आविष्कार, जन्म से लेकर उसका रूप-परिवर्तन, विकास, प्रयोग आदि भाषा-विज्ञान के प्रश्न हैं। परन्तु नूतन, नुकीले और उदार अर्थनिधियों का वहन करने वाले शब्दों का सृजन साहित्य के लिए मूल्य की वस्तु है। शब्द के गुण, शक्ति, प्रभाव आदि का साहित्यिक दृष्टि से अध्ययन इस शास्त्र का उपयोगी विषय हो सकता है।

साहित्य-सृजन के साथ जुटी हुई अन्य समस्याएँ भी खड़ी होती हैं। साहित्यकार का समाज के प्रति उत्तरदायित्व है : वह कहाँ तक 'स्वान्तः सुखाय' लिखने का अधिकारी है, और, कहाँ तक 'बहुजन हिताय' उसकी स्वतंत्रता पर रोक लगाना उचित होगा। अधिकार एवं कर्तव्य का प्रश्न यहाँ भी है। इसी प्रकार समाज और राज्य का साहित्य-सृजन के प्रति क्या कर्तव्य हो सकता है; नैतिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा अन्य सामाजिक सिद्धान्तों का साहित्य के साथ कैसे मेल हो? ये सब प्रश्न इस शास्त्र के अध्ययन के अन्तर्गत आ जाते हैं।

साहित्य के कई स्वाभाविक वर्ग और विभाजन हैं। जैसे, लोक-साहित्य और संस्कृत साहित्य। सौभाग्य से लोक-साहित्य का महत्त्व अब लोगों के सामने है। किन्तु इसके विषय में अभी शोध, संग्रह, परिरक्षण तथा परिवर्द्धन के प्रश्न शेष हैं। यह अब विदित ही है कि पण्डित-साहित्य की अपेक्षा

लोक-साहित्य में जन-जीवन की स्फूर्ति अधिक स्पष्ट एवं ओजस्वी होती है। तब तो इसकी प्रगति एवं सुरक्षा शास्त्रीय और व्यावहारिक चिन्तन के विषय होने चाहिए। लोक-साहित्य में भी शिशु-साहित्य (लॉरी) वीर-साहित्य (आल्हा आदि) और लोक-गीत अपना विशिष्ट महत्त्व रखते हैं।

साहित्य के अन्य विभाजन गद्य, पद्य, काव्य, गीति, नाटक, कहानी, गल्प, पत्र, प्रबन्ध आदि प्रख्यात हैं। इन भेदों के भी उपभेद हैं। इनमें से प्रत्येक का स्वरूप-निरूपण होना उचित है। साहित्य के विकास में नवीन 'रूपों' और 'आकृतियों' का आविष्कार अवश्यम्भावी है। साहित्य की मूल भूमि जन-जीवन है। इसके विस्तार एवं विकास का मार्ग भी जन-जीवन के साथ सम्बद्ध है। इस सम्बन्ध को अवगत करने के लिए हमें ऐतिहासिक दृष्टिकोण भी समझना चाहिए। साहित्य में एकदम 'नूतन' का सृजन नहीं होता। युगों का प्रयास इसके पीछे रहता है। इस प्रयास का अध्ययन लाभदायक होगा, विशेषतः इसलिए कि इसके द्वारा हम विकास का भावी-मार्ग प्रशस्त कर सकेंगे। वैसे तो सभी जीवित या अजीवित पदार्थों का इतिहास होता है; परन्तु साहित्य का सीधा सम्बन्ध आत्मा से है, और वह जड़ प्रकृति और जीवन की भी अपेक्षा अधिक संवेदनशील है। युग की परिस्थितियों की स्पष्ट छाया उस पर पड़ती है। उसमें सारा अतीत तो रहता ही है, वर्तमान और भविष्य भी रहते हैं। अतएव चेतना की शब्दार्थ-मयी अभिव्यक्ति होने के कारण, साहित्य सम्पूर्ण, अखंड जीवन की झाँकी प्रस्तुत करता है। इसके इतिहास का अध्ययन बड़ा रोचक हो सकता है।

साहित्य का यों तो सभी शास्त्रों से सम्बन्ध है और इस सम्बन्ध का विवेचन होना चाहिए, पर इसका घना सम्बन्ध कलाओं से है, जैसे संगीत, चित्र, मूर्ति, स्थापत्य, नृत्य, अभिनय आदि। अब तक अधिकतर साहित्य का अध्ययन मानो एकाकी ही हुआ है, उसे युग-चेतना की बहुत-सी अभिव्यक्तियों में से एक मान कर कम हुआ है। वस्तुतः कोई युग अपनी समष्टि-अनुभूति को अनेक प्रकार से अनेक रूपों में अभिव्यक्त करता है। माध्यम भिन्न हो सकते हैं। किन्तु इन भिन्नताओं के मध्य चेतना का आधार एक होने के

कारण उनमें एकरूपता रहती है। किसी भी काल की साहित्यिक अभिव्यक्ति को लीजिए और दूसरी कलात्मक कृतियों को। और, कलात्मक कृतियाँ ही क्यों, उस समय के सांस्कृतिक, सामाजिक आदर्शों को परखिए तो प्रतीत होगा कि उनमें परस्पर संगति है, जो, हम समझते हैं, स्वाभाविक ही है। केवल साहित्य के अध्ययन से उसके भी विषय में निर्णय करना संकीर्णता होगी।

साहित्य अन्य कलाओं को एक ओर से 'विषय' प्रदान करता है, जैसे, जातक-साहित्य या अश्वघोष के बुद्ध-चरित ने अजन्ता आदि के चित्रों को विषय, रूप एवं सामग्री प्रदान की, दूसरी ओर वह स्वयं संगीत से लय और छन्द, चित्र से वर्ण, स्थापत्य से स्थानों का विन्यास ग्रहण करता है। कला और साहित्य का परस्पर उपकारी-उपकार्य सम्बन्ध सहज होने के साथ रोचक भी है। धर्म ने तो साहित्य को बहुत दिया है। इसका बड़ा अंश 'धार्मिक' है। इनमें बहिरंग सम्बन्ध के अतिरिक्त आभ्यन्तरिक सम्बन्ध भी है। मनोविज्ञान, दर्शनशास्त्र, अध्यात्म शास्त्र आदि से भी इसका इसी प्रकार का सम्बन्ध है।

(३)

साहित्य केवल वर्णनात्मक या प्राकृतिक शास्त्र नहीं है, तो भी इसके निरूपण के लिए, इसी की विविध गति और आकृतियों के अध्ययन से, विज्ञान की भाँति, नियम निकाले जाते हैं। जैसे, इसके विकास एवं ह्रास के नियम। परन्तु यह शास्त्र मुख्यतः विवेचनात्मक और मूल्यात्मक (Noimative) है। रसवाद, अलंकारवाद, रहस्य, छाया या प्रगतिवाद आदि अनेक दृष्टिकोण समय-समय पर अपनाये गये हैं जिनके द्वारा साहित्य के मर्म को समझने का प्रयत्न हुआ है। इन दृष्टिकोणों के सत्यासत्य का विवेचन रोचक वस्तु है। साथ ही, यह भी आवश्यक है कि इनकी संकीर्णता से निकल कर कोई व्यापक और सच्चा दृष्टिकोण प्रस्तुत किया जाय। साहित्य-शास्त्र की विवेचना का यह सुपरिणाम होगा यदि इसके अध्ययन से हम तर्क-संगत और सही दृष्टिकोण पा सकें।

मूल्याङ्कन साहित्य-शास्त्र का प्रमुख लक्ष्य है। साहित्य जीवन की शब्दार्थमयी अभिव्यक्ति है। अभिव्यक्ति सरल, सहज, सजीव और मधुर होनी चाहिए; तभी वह कला के आदर्श, सौन्दर्य, को पहुँच सकेगी, और पाठक में रस-चेतना का उत्थान कर सकेगी। किन्तु साहित्य के सन्दर्भ में 'सुन्दर', मधुर, सरल, सहज आदि विशेषणों का क्या अर्थ है? ये शब्द मूल्य के वाचक हैं। किसी वस्तु का मूल्य उसके 'मानों' (dimensions) द्वारा निश्चित किया जाता है। साहित्य में इन 'मानों' का क्या स्वरूप हो सकता है? इन 'मानों' के आधार पर मानदण्डों का स्पष्टीकरण होना चाहिए। साहित्य के शास्त्रीय विवेचन में इन सब विचारों पर व्यवस्थित मनन होना चाहिए।

व्यवस्थित मनन का एक तो सामान्य प्रयोजन यही होगा कि बुद्धि इस विषय में विशद होगी, और, विशद होकर साहित्य में प्रवेश करने पर इसमें आनन्द एवं आलोक के नव स्रोत उदित होंगे जिनसे अबुद्धि और अपरिचित पुरुष वंचित रहता है। साहित्य-शास्त्र का अध्ययन हमें उस अनुभव को ग्रहण करने में सहायक होता है जिसे 'काव्य-सुख', या 'काव्य-रस' कहा गया है। यह माना कि जिस व्यक्ति में स्वाभाविक साहित्य-मर्मज्ञता नहीं है, या जिसे 'रसिकता सिकता सम' है, उसके लिए यह शास्त्र व्यर्थ है। किन्तु जैसे अन्धे के लिए चश्मा व्यर्थ है किन्तु आँखों वाले व्यक्ति को स्पष्ट देखने में सहायक होता है, यही शास्त्र-अध्ययन का भी प्रयोजन हो सकता है।

साहित्य के तल में ऊर्मिल जीवन एवं चेतना का विराट् विश्व रहता है। हम तो जगत्, जीवन और चेतना के सम्बन्ध को मिट्टी का दीपक-पात्र, उसमें भरा हुआ तेल, और, तेल के सहारे जलती हुई दीपक की बत्ती की भाँति मानते हैं। चेतना जलती हुई दीपक की 'दशा' है, तेल जीवन है, और, जगत् मिट्टी का दीपक। काव्य चेतना को व्यक्त करता है, किन्तु अपनी 'ध्वनि' या 'व्यञ्जनाओं' के बल से हमें जीवन एवं जगत् का रूप भी प्रस्तुत करता है। चेतना का आधार होने के कारण जीवन का उद्घाटन आह्लादकारी अनुभव होता है। साहित्य-शास्त्र का अध्ययन मानस-परिष्कार के लिए आवश्यक

है, क्योंकि अपरिष्कृत मानस में, धुंधले दर्पण की भाँति, विचारों की स्पष्ट छाया नहीं पड़ती ।

(४)

साहित्य-शास्त्र की अध्ययन-विधि क्या होगी ? साहित्य-शास्त्र एक ओर तो साहित्य के अध्ययन की विविध विधियों पर प्रकाश डालता है, दूसरी ओर अपनी शास्त्रीय विधि का विवेचन करता है । साहित्य-अध्ययन की विधि भिन्न-भिन्न उद्देश्यों के अनुरूप विविध होगी । जैसे, वैज्ञानिक पाठक के लिए 'विश्लेषण' प्रधान प्रणाली होगी । वह पाठ्य वस्तु को उसके विभिन्न अवयवों में बाँटेगा, प्रत्येक का परीक्षण करेगा, उनके परस्पर सम्बन्ध को समझेगा । उसका निर्णय वर्णनात्मक और विश्लेषण पर आधारित होगा । दार्शनिक पाठक काव्य में स्थायी, सनातन तत्त्वों की खोज करता है । वह साधारण घटनाओं के फेर में नहीं पड़ता, और, तल पर न तैर कर वह गहरे में डुबकी लगाता है । इसी प्रकार साहित्य में अध्येता समालोचक, सहृदय रसिक, भाषाविद्, ऐतिहासिक, समाज-शास्त्री और केवल मनोरंजन की खोज करने वाले होते हैं । विभिन्न दृष्टिकोणों को सम्मुख रखकर साहित्य-शास्त्र प्रत्येक के अनुरूप अध्ययन-विधि को प्रस्तुत करता है । वह प्रत्येक अध्येता के लिए उचित साहित्य की ओर संकेत करता है, प्रत्येक साहित्यिक विषय का विवेचन, विश्लेषण, आस्वाद्य रस आदि उपस्थित करता है ।

साहित्य-शास्त्र की अपनी अध्ययन-विधि मनन प्रधान है, यद्यपि वह निरीक्षण-परीक्षण-प्रयोग से भी काम लेता है । निरीक्षण-परीक्षण की आवश्यकता सृजित साहित्य के विविध रूपों और गति-विधियों को समझने के लिए होती है । साहित्य-शास्त्र साहित्य के बाद में आता है, और नूतन सृजन के लिए यह शास्त्र प्रेरणा, प्रकाश, मार्ग आदि दे सकता है । किन्तु जिस प्रकार व्याकरण भाषा का सृजन नहीं कर सकती, केवल उसका अध्ययन या विश्लेषण करती है, उसी प्रकार साहित्य-शास्त्र भी अनेक साहित्यों का अध्ययन करता है, वह साहित्यकार और अध्येता की मनोवृत्तियों और

अभिप्रायों को समझने का यत्न करता है। साहित्यिक अभिव्यक्तियों में नूतन भाव-धाराओं, भाषा के प्रयोगों, अपूर्व रूपों और प्रवृत्तियों का अध्ययन करता है। वह साहित्यों की परस्पर तुलना करता है। तुलनात्मक, ऐतिहासिक आदि दृष्टिकोण साहित्य में निरीक्षण आदि के लिए पर्याप्त अवकाश छोड़ देते हैं। लोक-रुचि का संग्रह किसी साहित्यिक प्रश्न को लेकर किया जा सकता है। विशेष प्रकार के साहित्य की विक्री आदि के आँकड़ों से भी कई प्रकार के 'निर्णय' प्राप्त हो सकते हैं। इस प्रकार हम देखेंगे कि केवल मनन को छोड़कर वैज्ञानिक प्रणाली का साहित्य शास्त्र में उपयोग है। किन्तु 'शास्त्र' होने के कारण मनन इसका मुख्य उपकरण है, और, 'मीमांसात्मक' होना इसके स्वरूप की विशिष्टता है।

मीमांसा का क्या अर्थ है? मीमांसा का अर्थ मनन की इच्छा है। मनुष्य अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व को प्रकृति के अविचल विधानों या तथ्य की आवश्यकताओं में नहीं बाँध देना चाहता। नैसर्गिक नियम मनुष्य स्वीकार करता है, और तथ्यों का अनुशासन वह मानता है, क्योंकि इनके द्वारा वह संकोच, पक्षपात, आत्म-प्रियता आदि दोषों से मुक्ति पाता है। किन्तु इतने पर भी जीवन के कुछ क्षेत्रों में इन सबसे भी वह छुट्टी चाहता है। 'मनन' मनुष्य की इसी मानसिक या बौद्धिक 'उन्मुक्त' क्रिया का नाम है। इससे वह 'अतीत' और 'अस्ति' की सीमाओं को लाँघ कर 'अनागत' एवं 'अपूर्व' का सृजन करने में समर्थ होता है। मनुष्य अपने जीवन के मूल्यों की खोज भी 'मनन' द्वारा करता है। साहित्य-सृजन इसके स्रष्टा के लिए, और, इसका अध्ययन रसिक अध्येता के लिए एक मूल्यवान् वस्तु है; यह 'मूल्य' इससे उत्पन्न होने वाले 'लाभ' के अतिरिक्त है। न केवल साहित्य-सृजन एक निरपेक्ष निधि है, आत्माभिव्यक्ति का मार्ग है, और इसी प्रकार साहित्य का अध्ययन भी, अपितु वह हमें जीवन के अन्य मूल्यों एवं निधियों से भी परिचित कराने का सुलभ साधन है। न जाने कितनी आत्माएँ साहित्य के शब्दार्थ-मय प्रवाह में तरङ्गें भर रही हैं; कितना बृहत् चेतनालोक इसमें बिखरा पड़ा है। सारा अतीत शब्दार्थ के एक कोने में समाया हुआ है, और संपूर्ण

अज्ञात और अनागत भी इसमें समा सकता है। “या दुग्धाऽपि न दुग्धेव सूक्तिधेनुः सरस्वती”। यह अक्षरशः सत्य वाक्य है। इस प्रकार साहित्य-शास्त्र में मनन या मीमांसन का स्थान है जिसके द्वारा ‘साहित्यिक मूल्यों’ पर विचार किया जाता है, इनकी विविध संकल्पनाएँ प्रस्तुत की जाती हैं। और, इन्हीं के द्वारा अन्ततः साहित्यिक कृतियों का मूल्याङ्कन होता है।

इस प्रकार विषय, उद्देश्य और विधि अपनी होने के कारण साहित्य-शास्त्र का, अन्य शास्त्रों की भाँति अपना अस्तित्व है।

साहित्य की पृष्ठ-भूमि

साहित्य का जीवन से वही सम्बन्ध है जो अंकुर का अपनी मूल भूमि से होता है। साहित्य में हम जिस गति और गाम्भीर्य, विकास और विस्तार, गन्ध और गौरव का अनुभव करते हैं वे सब जीवन की ही दशा और दिशा, प्रगति और प्रवाह से निसृत होते हैं। साहित्यकार का व्यक्तित्व जीवन की परिस्थितियों में पलता है; यदि हम इस कथन को स्वीकार करें तो यह निष्कर्ष हमें मानना होगा कि साहित्य का उत्कर्ष और वैभव अथवा उसका अपकर्ष और दीनता जीवन की ही उन-उन दशाओं से उत्पन्न होते हैं, और साहित्य के सृजन के लिए उसकी मूल भूमि को ही उर्वरा और समृद्ध बनाना आवश्यक होता है।

यह सामान्य सत्य हिन्दी के लिए भी लागू होता है। वर्तमान हिन्दी साहित्य के प्रति जो अपरिपक्व, अपूर्ण और असमर्थ होने का आरोप लगाया जाता है उसे यदि हम निराकरण करने के प्रयत्नों में अपनी शक्ति नष्ट न करके आंशिक रूप में स्वीकार कर लें और हिन्दी भाषियों के जीवन में परिपाक, पूर्णता और सामर्थ्य के लिए साधना प्रारम्भ करें तो अवश्य ही हमें अधिक लाभ होगा। साहित्य की समृद्धि के लिए अनुवाद आदि कृत्रिम किन्तु आवश्यक उपाय भी किये जाने चाहिए, किन्तु इसका स्वकीय विकास अपनी ही आन्तरिक शक्तियों के विकास पर निर्भर रहेगा। भिखारी को मान मिलना कठिन है।

जीवन में परिपाक से क्या तात्पर्य है? शिशु की अनुभूति इसलिए अपरिपक्व कहलाती है कि उसमें क्षणिक आकर्षणों के कारण एकसूत्रता, स्थायित्व, समन्वय और सम्वाद आदि गुणों का अभाव रहता है। तरुण

जीवन में भी अपेक्षाकृत परिपाक होने पर भी क्षणिक प्रवृत्तियों का प्राबल्य रहता ही है तथा जीवन के गम्भीर और विस्तृत अन्तराल में पलनेवाले सनातन आदर्शों, आत्मा और बुद्धि के प्रकाश से भासमान चिर सत्यों का अनुभव कम होता है। जीवन की परिपक्व अवस्था में उस अनुभूति के जगत् का उदय होता है जहाँ हमारे व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के आधारभूत सिद्धान्त, राजनीतिक, आर्थिक और नैतिक व्यवस्थाओं का पूर्व रूप, अतीत की परम्पराओं और अनागत के आकर्षक चित्रों का सामंजस्य जीवन की विविधता के बीच में अपूर्व सम्बाद, स्थिरता के साथ गति का, गाम्भीर्य के साथ विस्तार का, शक्ति के साथ शम का, सुख के साथ दुःख का, पुण्य के साथ पाप का तथा आदर्श के साथ यथार्थ के अपूर्व सम्मिश्रण स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। संक्षेप में विविध और विरोधी तत्त्वों का समन्वय परिपाक का परिचायक है, क्योंकि जीवन किसी तत्त्व को अस्वीकार नहीं कर सकता।

यह मानना होगा कि हिन्दी-भाषियों के वर्तमान जीवन में अनेक परम्परा और रूढ़ियों का निषेध है। इसने अभी चिर सत्यों को नहीं पाया है; इसीलिए इन्हें स्वीकार करने का प्रश्न नहीं उठता। पुरातन रूढ़ियों को त्यागने मात्र से नवीन युग का उद्घाटन नहीं हो सकता। हमें जीवन के विविध अंगों के लिए टिकाऊ सिद्धान्तों को खोजना होगा और उनमें समन्वय उत्पन्न करना होगा। यह सत्य है कि हमारा समाज अभी विचलित दशा में है, अभी रूढ़ि और प्रगति का संघर्ष समाप्त नहीं हुआ। हम अपनी जड़ों को अपनी भूमि में खोज रहे हैं तथा संस्कृति और सभ्यता की अवरुद्ध धाराओं को पुनः प्रवाहित करने का प्रयत्न कर रहे हैं। अभी हमें प्रगति को रोकने-वाले भौगोलिक, सामाजिक तथा आर्थिक बन्धनों को तोड़कर जीवन का विस्तार करना है। सदियों की संकुचित प्रवृत्तियों के कारण जो मानसिक ग्रन्थियाँ, निरर्थक भय और निर्मूल मान की भावनाएँ जम गयी हैं उन्हें उखाड़ देना है। हमें जीवन का सम्बन्ध विशाल विश्व की क्रान्तियों से जोड़ना है, विश्व के प्रवाह, प्रगति और आन्दोलन में इसे सम्मिलित करना है, संसार के किसी भी कोने में होने वाली घटना से हृदय में स्पन्दन का अनुभव

हो इस प्रकार की संवेदनशीलता को जन्म देना है। हमें चाहिए कि हमारी जिज्ञासा हमें पर्वतों के शिखरों पर, समुद्र के तलों में, आकाश के अनन्त विवर में, देश-देशान्तरों में, विविध समाजों में ले जाय। इस प्रकार जीवन का विस्तार हो तथा जीवन के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में गवेषणा के द्वारा प्रवेश हो। इस प्रकार के प्रयत्नों से साहित्य में भी विविध रूपों का उदय होगा जिनके समन्वय से इसमें परिपाक उत्पन्न होगा।

तरुण वर्ग परिपक्व साहित्य को जरठ साहित्य न समझे क्योंकि उस साहित्य में सामर्थ्य होती है जब कि जरठ साहित्य जीर्ण, उपदेष्टा और नवीन पराङ्मुख होता है। किन्तु केवल भावावेश अथवा उद्वेगों की तीव्रता को साहित्य की सामर्थ्य समझना उचित नहीं। साहित्य की सामर्थ्य नवीन को जन्म देने की सामर्थ्य है। जीवन के लिए मार्ग-प्रदर्शन, अनागत का निर्माण, अप्रकाशित अंगों को आदर्शों और विचारों के प्रकाश से ज्योतिष्मान करना, नीरस को सरस बनाना, हमारी पीड़ा को अपने प्रभाव से आनन्द में परिवर्तित कर देना, विजय में उल्लास की सही अनुभूति जगाना और पराजय में आत्मा-भिमान भरना, पाप से निवृत्त करना और पुण्य में प्रवृत्त करना, जीवन की मूक वेदनाओं को सवाक् करना और उलझनों को सच्ची परिभाषा और मीमांसा द्वारा सुलझाना, यह सब कार्य शक्तिशाली साहित्य ही कर सकता है, जरठ साहित्य नहीं। इस शक्ति का स्रोत जीवन की चिरन्तन और मूल प्रेरणाएँ हैं जो साहित्य में अनुद्वेगकारी शब्दों में अभिव्यक्त होती हैं।

एक सामयिक साहित्य भी होता है जो किसी सीमित उद्देश्य की सिद्धि के लिए लिखा जाता है। वह चिरन्तन नहीं होता। हिन्दी में प्रतिवर्ष एक नया युग होता है जिसका तात्पर्य है कि स्थायी साहित्य की अपेक्षा सामयिक साहित्य अधिक उत्पन्न हो रहा है। सामयिक साहित्य का कम महत्त्व नहीं है किन्तु यह पर्याप्त नहीं कहा जा सकता है। पूर्ण और परिपक्व साहित्य के लिए आवश्यक है कि वह जीवन के सनातन तत्त्वों को भी अभिव्यक्त करे। इसके लिए आवश्यक है कि प्रत्येक लेखक साथ ही गवेषक भी हो। हमारे यहाँ 'शुद्ध साहित्यिकों' की कमी नहीं है जो केवल अपने अन्तर में से सम्पूर्ण

सामग्री निकाल कर साहित्य की सृष्टि, मकड़ी की भाँति, करते रहते हैं। उन्हें गवेषणा, यात्रा अन्वीक्षण, विमर्श आदि की अपेक्षा ही प्रतीत नहीं होती। यह सम्भवतः वे लेखक हैं जो “स्वान्तः सुखाय” ही लिखते हैं अर्थात् केवल अपने सुख के लिए ही लिखते हैं, यद्यपि इनका स्वान्तः अत्यन्त संकुचित व्यक्तित्व ही होता है। “स्वान्तः सुखाय” लेखकों से निवेदन है कि वे तुलसी जैसी सतत साधना द्वारा अपने व्यक्तित्व को विशाल बनावें या वे जीवन, प्रकृति, समाज, कला, विज्ञान आदि के किसी पहलू पर विशेष अध्ययन और विचार प्रारम्भ करें। इसी प्रकार के गवेषणात्मक प्रयत्नों द्वारा ही साहित्य के क्षेत्र का विस्तार होगा और नवीन दिशाएँ खुलेंगी। उदाहरण के लिए उपन्यास, कहानी आदि साहित्य को लीजिए। वर्तमान अमरीकी या पाश्चात्य साहित्य में इसका विषय तथा विस्तार समुद्र और आकाश, देश और विदेश, युद्ध और शान्ति, यहाँ तक कि विश्व जीवन की झलक और उसकी समस्याएँ आदि तक फैले हुए हैं, जब कि हिन्दी साहित्य का एक लब्धप्रतिष्ठित उपन्यास (जो लगभग ५०० पृष्ठों में है) कलकत्ते की गलियों से बाहर नहीं निकलता, जिसकी घटनाओं में कृत्रिमता है और इसका आधा भाग अपने आप से बातें करने में बीत गया। एक अमरीकी उपन्यास एक मछली के जीवन को औपन्यासिक ढंग से वर्णन करने के लिए लिखा है। यह मछली प्रशान्त महासागर के मध्य में रहती है, किन्तु ऋतु-काल में पुनरुत्पादन के लिए सैकड़ों मील चलकर उत्तरी ध्रुव के समीप पहुँचती है। इसका जीवन अत्यन्त रोचक है। इस उपन्यास में गलियों की गन्ध न होकर समुद्र का विस्तार और वैभव तथा जीवन के वैचित्र्य का अनुभव होता है। यह उपन्यास और विज्ञान का अपूर्व संमिश्रण है। पर इसके लिखने के लिए तो विशाल जीवन से सम्पर्क चाहिए।

साहित्य की पूर्णता से क्या तात्पर्य है, और इसे पूर्ण किस प्रकार बनाया जा सकता है? साहित्य को पुरुषाकार मानना चाहिए। जिस प्रकार मनुष्य के पूर्ण व्यक्तित्व में बुद्धि, भाव, संकल्प, कल्पना, चरित्र, सौन्दर्य, संवेदना, स्थायी आदर्श, क्रियात्मकता आदि अनेकानेक गुण होते हैं जिनकी

व्यवस्था से व्यक्तित्व भी व्यवस्थित होता है उसी प्रकार साहित्य में जीवन के भौतिक और आध्यात्मिक, धार्मिक और नैतिक, बौद्धिक और भावात्मक, वैज्ञानिक और कलात्मक आदि अनन्त अंग होते हैं जिनके विकास और विस्तार से साहित्य पूर्ण होता है। पूर्ण साहित्य में जीवन के ऐकिक और सामाजिक, अतीत, वर्तमान और भावी अंगों की अभिव्यंजना होनी चाहिए। पूर्ण साहित्य विश्व की भाँति ही सम्पूर्ण होना चाहिए जिसमें सूक्ष्म और स्थूल, दूरस्थ और समीपस्थ, आन्तरिक और बाह्य आदि अनेक पहलुओं पर व्यवस्थित विचार और हृदयग्राही चित्रण हो। साथ ही साहित्य में रूपों की अनेकता भी होनी चाहिए। काव्य, उपन्यास, कथानक गल्प, नाटक आदि साहित्य के कुछ रूप हैं। परन्तु मनुष्य का अनन्त आत्मा जो अनन्त सृष्टि का मूल है अनन्त रूपों में प्रकट होने के लिए उन्मुख रहता है। अतएव यद्यपि साहित्य और कला में वह अनन्त प्रकाश और आनन्दमय आत्मा प्रकट हो चुका है, तथापि अभी उसके गर्भ में असंख्य काव्य और विज्ञान ओत-प्रोत हैं। अनुभव और चिन्तन द्वारा इनका आविष्कार करना साहित्यकार का कर्तव्य है।

व्यक्ति और विश्व के जीवन की झाँकी साहित्य में होती है। इनकी भाँति ही साहित्य में पूर्णता होनी चाहिए। जिस समाज अथवा जाति का जीवन संकुचित और अविकसित है, जिसमें न गम्भीरता है न विशालता और न शालीनता, जिसने आदर्शों को नहीं पहचाना और न आदर किया अथवा जिसने मानसिक और बाह्य साहस के अभाव के कारण विश्व के अनेक विधि अंगों का शोधन नहीं किया, ऐसा समाज पूर्ण साहित्य-सृष्टि के लिए असमर्थ होगा। प्राचीन साहित्य के इतिहास से यह बात स्पष्ट होती है कि अतीत युग में साहित्यकारों का कोई वर्ग नहीं था। केवल महामुनि, ऋषि और वे लोग जिनका जीवन स्वयं सक्रिय, उर्वर और गम्भीर था, साहित्य का सृजन स्वान्तः सुखाय और लोक-कल्याण के लिए करते थे। उस साहित्य में जो गरिमा और गाम्भीर्य, सत्य और आदर्श की गन्ध है वह साहित्यकारों के जीवन की उपज है। यदि साहित्य के अनन्त अंगों को पूर्ण और पुष्ट

बनाना है तो आवश्यक होगा कि वह समाज ही अपने जीवन को विश्व की भाँति विशाल और विकासोन्मुख बनावे। सत् साहित्य के निर्माण के लिए कोई छोटा रास्ता नहीं है।

आश्चर्य यह है कि वर्तमान शताब्दी में जीवन और जगत् का बहुत विस्तार हुआ, इसकी गम्भीरता भी बढ़ी है, इसकी सीमाएँ भी बहुत दूर तक फैल गयी हैं तथा नवीन समस्याएँ और दृष्टिकोण स्पष्ट हुए हैं। यह प्रगति अब भी चल रही है किन्तु हिन्दी साहित्य का क्षेत्र अभी संकुचित है। इसमें प्रयोग करने वाले साहित्यिक के साहस की कमी है, मानो शिशु अपने पालने को छोड़ना नहीं चाहता, किनारे को पाने के लिए साहस न करके डरपोक मल्लाह अपनी जर्जर तरी से चिपका हुआ है। सम्भवतः परिस्थितियाँ अनुकूल नहीं हैं परन्तु हिन्दी को अपनी गौरव-वृद्धि के लिए साहसी साहित्यकारों की आवश्यकता है। कोई साहित्य अपनी पृष्ठभूमि को उर्वर, गम्भीर, विस्तृत बनाये बिना स्वयं महान् नहीं हो सकता। यह पृष्ठभूमि साहित्यकार का स्वयं जीवन है।

साहित्य में सौन्दर्य-तत्त्व

‘सुन्दर’ की परिभाषा करना कठिन है; और वह परिभाषा सर्वमान्य भी हो, यह असम्भव-सा प्रतीत होता है। परिभाषा न कर सकने के दो कारण मुख्यतः होते हैं; एक यह कि वस्तु अत्यन्त सरल है, इतनी सरल कि विश्लेषण नहीं किया जा सकता, जैसे मिठास, सुख-दुःख, प्रेम-द्वेष आदि। दूसरे, पदार्थ इतना जटिल हो कि विश्लेषण असम्भव हो जाय, जैसे संस्कृति, सभ्यता, विकास आदि की परिभाषा। अत्यन्त सरल अथवा जटिल होना किसी पदार्थ की परिभाषा की दो सीमाएँ हैं। हमारे मत में ‘सुन्दर’ परिभाषा की सीमा से इसलिए बाहर है कि वह हमारी सरलतम और निकटतम अनुभूति है। वह विरल और विचित्र नहीं अपितु सरल और साधारण है। इस मत की पुष्टि करने का यह निबन्ध अवसर नहीं है। फिर भी, इसका एक पोषक प्रमाण यह है कि ‘रस’ की स्पष्टतम और तीव्रतम अनुभूति मन की सरल और ‘आदिम’ अवस्था में जितनी होती है उतनी ‘संस्कृति’ द्वारा ‘विकृत’ अवस्था में नहीं जब मन विधि-निषेध और न जाने कितनी मीमांसाओं में उलझ जाता है।

सौभाग्य से प्रस्तुत विषय के लिए ‘सुन्दर’ की परिभाषा आवश्यक भी नहीं है। जिस प्रकार ग्राफ कागज पर किसी बिन्दु की स्थिति दूसरी अक्ष रेखाओं और बिन्दुओं की सहायता से निश्चित की जा सकती है, उसी प्रकार अन्य अनुभवों के सम्बन्ध में ‘सुन्दर’ का स्वरूप-बोध किया जा सकता है। संक्षेप में, कोई ‘वस्तु’ सुन्दर होती है; ‘सौन्दर्य’ उसका गुण है। सुन्दर वस्तु के सन्निकर्ष से ‘रस’ की अनुभूति जाग्रत होती है। यह अनुभूति सरल और सामान्य होने के साथ ही पोषक होने के कारण मूल्यवान भी है। इसको उत्पन्न करने में ‘वस्तु’ का इतना ही हाथ है जितना विद्युत् प्रकाश

को लाने के लिए 'स्विच' का होता है। जिस प्रकार जल पृथ्वी के हृदय से भी झरता है और आकाश के बादलों से भी; जिनसे मिलकर स्रोतस्विनी का जन्म होता है, उसी प्रकार 'सुन्दर' वस्तु और रसिक की आत्मा दोनों से ही रसानुभूति का उदय होता है। हम 'आनन्द' की अपेक्षा 'रस' शब्द को उपयुक्त समझते हैं क्योंकि 'आनन्द' और साधारण सुख में अन्तर करना भाषा के प्रयोग में कठिन प्रतीत होता है जब कि 'रसानुभूति' 'सुख' से भी अधिक 'दुःख' से जाग्रत और पुष्ट होती है।

रसानुभूति क्या है? यह 'आत्मा' की वह स्वकीय और सरलतम अवस्था है जो अवस्था 'व्यक्तित्व' के उदय होने से पूर्व उसकी थी। व्यक्तित्व का केन्द्र 'अहं' की भावना है। इसके चारों ओर व्यक्ति की विशेष परिस्थितियाँ परिधि का निर्माण करती हैं। केन्द्र तथा परिधि के मध्य प्रदेश में उनके स्वकीय अनुभवों का ताना-बाना रहता है। मनोविज्ञान की भाषा में, व्यक्तित्व अनुभूतियों का वह सक्रिय संस्थान अथवा व्यवस्था है जो किसी व्यक्ति के व्यवहार, विचार-धारा, मनोवेगों का आधार एवं संचालक है। आत्मा अनन्त है, व्यक्तित्व उस पर तैरती हुई नौका है; आत्मा अमेय आकाश है, व्यक्तित्व उसमें उड़ता हुआ अभ्र-खण्ड है; आत्मा अनिमिष ज्योति है, व्यक्तित्व उससे निःसृत स्फुलिङ्ग है। व्यक्तित्व व्यवहार व जीवन के लिए आवश्यक है, किन्तु रसानुभूति के लिए तो इसका 'विलय', 'निर्गलन', 'भंग' अनिवार्य है। इस स्थान पर अनेक प्रश्न खड़े होते हैं जिनके उत्तर देने में यदि हम उलझ गये तो प्रस्तुत विषय से दूर हो जायेंगे। अतः इतना कह कर हम आगे चलें; सौन्दर्य का प्रभाव व्यक्ति को गलाकर आत्मा को उसकी आदिम, स्वकीय एवं सरल अवस्था में ले आता है। "रसो वै सः" वह आत्मा स्वयं रस है, जीवन है, चिन्मय और व्याख्या से बाहर है। स्यात्, आप कहें—'उपनिषदों के रहस्य में न जाइए। विज्ञान की बात कीजिये।' परन्तु सामयिक मनोविज्ञान भी तो 'मन' को अनन्त और अजेय मानता है जिसके व्यवस्थापन से 'व्यक्ति' का निर्माण होता है। और भी, विज्ञान की अपनी सीमाएँ हैं। एक सीमा यह है कि वह सरलतम पदार्थ का निर्वचन

नहीं कर सकता जिसका विश्लेषण न हो सके। रसानुभूति का विश्लेषण न सम्भव है न उचित। अस्तु, रस आत्मा की सरलतम और स्वकीय अनुभूति है और 'सुन्दर' वस्तु के 'सौन्दर्य' गुण से उदित होती है। हम इस मत की स्थापना अन्यत्र करेंगे। प्रकृत विषय के लिए पाठक से निवेदन है कि वह इसे स्वीकार कर ले।

प्रकृत विषय पर आने से पहले एक अन्य प्रश्न स्पष्ट करना होगा। 'कला' और 'सुन्दर' में क्या सम्बन्ध है? सौन्दर्य का वास्तविक स्रोत और आधार प्रकृति है। मनुष्य जब अपनी प्रतिभा से सौन्दर्य का सृजन करता है तो वह कलाकार होता है। कला जिस सौन्दर्य को जन्म देती है उसमें दो विशेष गुण रहते हैं; एक यह कि मानव-माध्यम से उत्पन्न होने के कारण उसमें 'मानवता' या 'मार्मिकता' रहती है। प्रकृति के 'दिव्य' सौंदर्य से कला का मानव-सौंदर्य अधिक मार्मिक होता है। दूसरे, कला-सृष्टि सौंदर्य में 'अर्थ' की अभिव्यक्ति अवश्य ही होती है। कला के माध्यम से मनुष्य की चेतन और अचेतन वेदना मुखर होती है। अतएव कला अवश्य ही मार्मिक, मानव और वेदना-गम्य 'अर्थों' की अनुभूति उपस्थित करती है। किन्तु जैसा हम पहले कह चुके हैं कि सौंदर्य आत्मा की सरलतम अनुभूति है, वह अपनी ही चरम और सरल अवस्था का अनुभव है। इसलिए जहाँ यह अनुभूति कला द्वारा जागरित होती है वहाँ एक ओर हमारी साधारण 'व्यक्ति-ग्रन्थियों' का निर्गलन होता है ['भिद्यते हृदय-ग्रन्थिः'], दूसरी ओर कला अपने गुण के प्रभावों से रसिक के लिए एक नूतन, अननुभूत, अपूर्व विश्व का चित्र प्रस्तुत करती है। कला की यह द्विविध क्रिया है : एक ओर अपन गुण-प्रभाव से सामान्य विश्व का रूपान्तरण अथवा यों कहिए—एक नूतन संसार का सृजन जिसमें हमारे दैनिक संसार से भिन्न विधान रहते हैं, जहाँ काल, दिशा, विधि-निषेध, प्रमाण्य आदि के मापदण्ड विचित्र हो जाते हैं (जैसे, नाट्य में सीता-राम के अभिनय से रसानुभव) और जहाँ हमारी सत्यासत्य की मीमांसा भी असाधारण हो जाती है। दूसरी ओर, कला अपनी शक्ति से आत्मा के स्वसंवेद्य चित् प्रकाश के ऊपर जाल के आवरण

की भाँति छाये हुए 'व्यक्तित्व' को, क्षणिक ही सही, भंग कर देती है (चिदावरण भंग से रस-निष्पत्ति—पण्डितराज जगन्नाथ)। कला अपने अङ्ग-प्रत्यङ्गों और सम्पूर्ण साधनों से एक ओर 'अपूर्व' का सृजन और दूसरी ओर 'पूर्व' का विसृजन रसानुभूति के क्षण में उपस्थित करती है। यह क्षण 'सुन्दर' के अनुभव का क्षण होता है।

(२)

ऊपर के कथन में अनेक शङ्कास्पद बातें होंगी। किन्तु प्रस्तुत विषय में अग्रसर होने के लिए हमें इन्हें छोड़कर आगे चलना होगा।

साहित्य और साहित्य-कला में क्या अन्तर है? वास्तव में, जहाँ शब्द रहता है वहाँ अर्थ भी रहता है। शब्द आधार है, अर्थ आधेय है; शब्द शरीर है अर्थ आत्मा है; शब्द व्यक्त है, अर्थ अव्यक्त है। वाक् और अर्थ सम्पृक्त हैं पार्वती और परमेश्वर की भाँति। व्यक्त और अव्यक्त का यह अपूर्व संयोग साहित्य को उत्पन्न करता है। इस दृष्टि से सभी अर्थमय अभिव्यक्तियाँ साहित्य हैं। रंग और रेखा द्वारा चित्र, गति और लय द्वारा नृत्य, ध्वनि और ताल द्वारा संगीत तथा अन्यान्य प्रकारों से सभी कलाएँ अनेक अर्थों का उद्घाटन करती हैं और सभी 'साहित्य' के अन्तर्गत आ सकती हैं। परन्तु यह दृष्टि सत्य होने पर भी अत्यन्त सामान्य होने के कारण हमें ग्राह्य नहीं। अतएव हमें साहित्य के स्थान पर साहित्य-कला की, संकुचित ही सही, परिभाषा करनी चाहिए। शब्द और अर्थ का 'साहित्य' (सहित होना) तो सर्वत्र है, किन्तु जहाँ यह 'साहित्य' कला के उद्देश्यों को पूरा करता है अर्थात् जहाँ शब्दार्थ के माध्यम द्वारा रसमय जगत् का आविर्भाव रसिक के लिए होता है, जहाँ शब्द और अर्थ दोनों अपने आपको रसानुभूति के अधीन कर देते हैं और अपने लय, गति, ताल और सौष्ठव आदि गुणों द्वारा 'नूतन' का निर्माण करते हैं, वहाँ साहित्य कला की भूमिका को ग्रहण करता है। प्रस्तुत विषय साहित्य-कला में सौंदर्य के स्वरूप का विवेचन करने के लिए है।

वास्तव में प्रश्न यह है : शब्द और अर्थ पृथक् और सहित रह कर

किस प्रकार रस-सृष्टि करते हैं? इनके कौन और कैसे प्रभाव हैं जिनके द्वारा आत्मा को रस का अनुभव होता है? साहित्यिक कलाकार किन उपायों, योग और योजनाओं द्वारा वह 'प्रभाव' शब्दार्थ द्वारा प्रकट करता है जिसे 'रस' कहा जाता है और जिसकी निष्पत्ति अन्यान्य कलाएँ अपने-अपने साधनों से करती हैं? साहित्य-कला के इन प्रयत्नों और उपायों का संक्षिप्त विवेचन ही यहाँ किया जा सकता है।

विना अर्थ के भी शब्द में स्वकीय कलात्मक शक्ति है जिसके द्वारा वह रस-निष्पत्ति में समर्थ होता है। शब्द नाद का विशेष रूप है। अतएव नाद के समान ही श्रुति और स्वरों के आरोह-अवरोह से निष्पन्न गीत की भाँति शब्द में संगीत का 'सर्वस्व' सार अनुभव किया जा सकता है। संगीत की लयात्मक गति उसका मुख्य गुण है। इसके प्रभाव से श्रोता के मन की साधारण, सांसारिक गति 'लय' का रूप धारण करती है जिसका प्रथम स्फुरण उस स्थिति में होता है जब श्रोता 'गत' और 'अनागत' रूपी समय-प्रवाह को भूलकर एक निष्पन्द, सतत 'काल' का अनुभव करता है। इस स्थिति को 'आत्म-विस्मृति' साधारणतया कहते हैं। वस्तुतः काल-पाश और अनुभवों के जाल से निर्मित मनुष्य के सांसारिक 'व्यक्तित्व' के अनावरण से 'आत्मानुभूति' का यह विशेष क्षण होता है। संगीत की पहली झनक, नाद का प्रथम प्रहार, यदि 'लय' अर्थात् व्यक्तित्व का 'विलय', 'आत्मानुभूति' बनाम आत्म-विस्मृति उत्पन्न नहीं करते तो रसिक या संगीत में कहीं दोष अवश्य है। साहित्य शब्दों के द्वारा संगीत के इस मार्मिक गुण का उपयोग करता है। इसी गुण से साहित्य-कला में मात्रा, छन्द, तुक नियमित गति आदि का आविर्भाव हुआ है। उच्चकोटि की कला में कितना साहित्य है और कितना संगीत, बताना कठिन होता है। वस्तुतः साहित्य शब्द-निर्मित संगीत है और संगीत स्वरों का साहित्य।

पदों की योजना से 'शब्दों का संगीत' बनाम साहित्य उत्पन्न होता है। परन्तु प्रत्येक पृथक् शब्द में, अर्थ को ध्यान में न लाकर भी, श्रव्य, दृश्य, स्पर्श तथा दूसरे ज्ञानेन्द्रियों के गुण भी रहते हैं। रूप के अनन्तर शब्द का

अनुभव मनुष्य के लिये 'सुव्यक्त' हुआ है। शब्दों के संसार में विचरने वालों का अनुभव है कि कुछ शब्द 'कोमल', कुछ 'कठोर', कुछ आयास उत्पन्न करने वाले, अन्य 'विश्रान्ति' देने वाले, कुछ भारी, कुछ हल्के, कुछ कटु और दूसरे मृदु, कुछ मधुर और दूसरे तिक्त, आदि न जाने कितने मनोभावों को जाग्रत करने वाले होते हैं। प्रत्येक अनुभव को व्यक्त करने के लिए शब्द हैं। शब्द को प्रकट करने के लिए 'रूप' हो या न हो, परन्तु प्रत्येक रूप का व्यञ्जक शब्द मिलेगा। इस प्रकार शब्दों का संसार पूर्ण है; उसमें अखिल रूप और अर्थ विद्यमान रहते हैं। जब कोई नूतन 'अनुभव' जन्मता है उसे शब्द ही शरीर प्रदान करते हैं। इसीलिए शब्दों से निर्मित सृष्टि बनाम साहित्य में यदि अखिल विश्व के अखिल गुण मौजूद हों तो आश्चर्य ही क्या?

शब्दों की परस्पर संगति एक विशेष चमत्कार उत्पन्न करती है। 'संगति' का अर्थ है: अनेक तत्त्वों का ऐसा सम्वाद और सामंजस्य कि वे परस्पर अन्योन्य के प्रभाव को बढ़ावें और एक सजीव 'एकता' उत्पन्न करें। साहित्य-कला में शब्दों की संगति न केवल 'अर्थ' की एकता व सामंजस्य में प्रकट होती है, अपितु ध्वनि की 'एक-वाक्यता' को भी उत्पन्न करती है। एक दूसरे से सटा कर शब्द रखने से वाक्य या संगति उत्पन्न नहीं होते। शब्द-संगति का जन्म कलाकार की उस कलात्मक प्रतिभा से होता है जिससे स्रोत की भाँति स्वयमेव सम्पूर्ण सौंदर्य का सृजन होता है। इसके लिए कला का 'पृथक् प्रयत्न' आवश्यक नहीं। इसीलिए कलात्मक साहित्य में शब्द-योजना में अपूर्व स्वाभाविकता और सहज गुण विद्यमान रहते हैं जिन्हें अधपके साहित्यकार कृत्रिम और चेतन प्रयत्नों से उत्पन्न नहीं कर सकते।

शब्द अर्थ का **वैखरी** या 'प्रकट' रूप है और अर्थ शब्द का '**परा**' या 'अप्रकट' मूल है। 'परा' साक्षात् आत्मा है जो अविभक्त आलोक या चेतना के रूप में हमारे अस्तित्व का उद्गम है। किसी अज्ञेय कारण से, ठीक उसी कारण से जिससे बीज अंकुर के रूप में परिणत होने के लिए प्रवृत्त होता है, उस अनन्त चेतनालोक में स्पन्द होता है और वह 'आलोक' व्यक्त होने के लिए उन्मुख हो जाता है। यह वाणी का '**पश्यन्ती**' रूप है।

परन्तु यह अखण्ड आलोक शनैः-शनैः 'नाद' का रूप धारण करता है। यह 'मध्यमा' वाणी है। और अन्त में वह अखण्ड आलोक नाद में परिवर्तित होकर खण्डशः विभक्त रूपों में शब्दों के द्वारा प्रकट हो जाता है। शब्द चेतना के खण्ड हैं, आलोक के कण हैं, आत्मा की सजीव, स्पन्दन करने वाली अभिव्यक्तियाँ हैं। फलतः शब्द में शक्ति रहती है। नाद रूप में व्यक्त हुआ शब्द अव्यक्त आत्मा से सम्बद्ध है। वह शब्द हमें 'आत्मानुभूति' तक ले जा सकता है जो कला की अनुभूति है। शक्तिशाली शब्द का प्रयोग प्रकाश के लोक का उद्घाटन कर सकता है। साहित्य के लिए यह प्रयोग इसका प्राण है। क्योंकि हम अपने कला के अनुभव में 'वैखरी' स्तर पर ही नहीं रुकना चाहते। शब्दों का सुप्रयोग हमें कहाँ तक 'श्रुत' से 'अश्रुत' की ओर, वैखरी से 'मध्यमा,' 'पश्यन्ती' और 'परा' के अचिन्त्य आलोक की ओर, सीमित से असीम की ओर ले जाता है—यह साहित्य की परख के लिए अच्छी कसौटी है। यदि हम शब्द की इस केन्द्रोन्मुखी और केन्द्रविमुखी गति को समझ सकें, शब्द कैसे जन्मता है, इसे जान सकें तो हमें निश्चय ही अध्यात्मरहस्य को समझने की कुंजी मिल जाये।

अर्थ मूल है, शब्द उसके अंकुरित पुष्प और पल्लव। अर्थ अपनी अभिव्यक्ति के लिये शब्द की ओर, बीज जैसे अंकुरण के लिये, गमन करता है और शब्द अपने अस्तित्व के लिये, शरीर जैसे प्राणन के लिये अर्थ की ओर चलता है। शब्द और अर्थ के बीच की यह गति वास्तव में साहित्य का रहस्य है। स्यात्, यह मानव के अस्तित्व का रहस्य भी है।

वैदिक साहित्य में शब्दार्थ के इस रहस्य को समझने के लिये वाणी को 'गौ', 'वृषभ' आदि से उपमित किया है। किन्तु सबसे सुन्दर उपमा वाणी को 'उषसी, सुवासा' अर्थात् सुन्दर वस्त्रों से सजी प्रियतमा युवती के समान कह कर दी है। सकामा युवती का 'अभिप्राय' है, किन्तु वह उसे 'प्रियतम' पर ही प्रकट कर सकती है। यह 'अभिप्राय का उद्घाटन' कैसे हो? क्या निर्लज्ज होकर कहे? शालीनता की हानि होगी। क्या रूठकर अवगुंठन

में मुँह छिपा ले ? यह विषम आचरण होगा। उसका चीर कितना झीना हो कि प्रियतम उसके मनोहर अंगों को निहार कर स्वयमेव मुग्ध हो आत्म-निवेदन करे। यदि अत्यन्त झीना हुआ तो जुगुप्सा का भाव उत्पन्न हो सकता है। भय है प्रियतम विमुख न हो जाय। और, यदि संवरण अधिक गाढ़ा हुआ तो सारा प्रयत्न ही विफल हो जाय। साहित्य से वाणी का प्रयत्न उस सुवासित विलासिनी के प्रयत्न की भाँति है जो अपनी शालीनता की रक्षा करती हुई अपने मनोगत भाव को व्यक्त करती है।

इसी उपमा को थोड़ा और लीजिये। सुन्दरी के रूप के अनुसार वस्त्र और भूषा होनी चाहिए (Consent of sound and sense) इससे उसका सौन्दर्य बढ़ेगा। अलंकार हों, किन्तु कृत्रिमता नहीं, आडम्बर नहीं। नवीनता और विविधता हो, किन्तु आश्चर्य चकित करके 'प्रियतम' को मूढ़ बनाने के लिये प्रदर्शन नहीं। सज्जा हो, किन्तु सरलता और स्वाभाविकता का ह्रास न करे। और, इतनी ऋजु और 'निगूढ़-भावा' भी न हो कि अपना मन्तव्य प्रकट भी न कर सके। इस प्रकार की 'विकट' वाणी कालिदास, और अनेक कवि एवं लेखकों की है जो ओज, प्रसाद और माधुर्य गुणों से ओत-प्रोत होती है। यह शब्द-शरीरा वाणी अपने झीने चीर में से अंगों को दिखाती हुई भी अपनी शालीनता, अभिजन और गाम्भीर्य की रक्षा करती है, कुल-वधू की भाँति वार-विलासिनी के समान नहीं।

(३)

'अर्थ' साहित्य की आत्मा है। शब्द के माध्यम से अर्थ की अभिव्यक्ति और अनुभूति 'साहित्य' है तथा शब्दार्थ के माध्यम से सौन्दर्य की अभिव्यक्ति और रसानुभूति 'साहित्य-कला' है जो हमारा मन्तव्य विषय है। किन्तु जैसा कि पहले प्रतिपादन किया जा चुका है शब्द और अर्थ का 'साहित्य' अखण्ड है, अतएव शब्द के द्वारा जिस सौन्दर्य का सृजन होता है वह अर्थहीन नहीं हो सकता और न इसका विपरीत ही सम्भव है। फिर भी यह मानना होगा कि शब्द इन्द्रिय-गम्य, व्यक्त पदार्थ है जिसमें खण्ड या अन्तर हो सकते हैं और 'अर्थ' बुद्धिगम्य, आन्तरिक वस्तु है जो अखंड प्रवाह के रूप में ही

अनुभूत होता है। प्रस्तुत अंश में हम 'अर्थ' के माध्यम से स्पष्ट सौन्दर्य पर विचार करेंगे।

'सुन्दर' वस्तु, चाहे वह राग हो या चित्र, मूर्ति हो या भवन, उपन्यास हो या काव्य, पूर्ण और अखण्ड होती है। खण्डित और अपूर्ण वस्तु हमें ग्राह्य नहीं होती। इसलिए 'सुन्दर' वस्तु में अवयवों का विन्यास स्वाभाविक और सहज होता है जिससे उसकी सम्पूर्णता निर्वाध रहे। किसी मूर्ति, भवन, राग या चित्र को लीजिए। यदि वह कलाकार की सौन्दर्याविगाहिनी प्रतिभा की उपज है और उसमें 'प्रसव' की भाँति पल कर प्रसूत हुई है तो वह अपने अंग-प्रत्यंगों से पुष्ट और पूर्ण होगी। विकलांग कला-कृति परिपक्व प्रतिभा की प्रसूति नहीं मानी जाती। साहित्य-कला-कृतियों में तो इस गुण की रक्षा के लिए अरस्तू आदि पाश्चात्य विचारकों ने देश, काल और घटना की एकताओं का आविष्कार किया है, यद्यपि इनकी संकुचित परिभाषा करना उचित नहीं। वास्तव में कला-कृति 'एक' और 'सम्पूर्ण' होती है तो एक में एकता लाने का प्रश्न ही क्या। देश, काल और घटनाओं में व्यवधान से भी यदि काव्य के पूर्ण और पुष्टांग होने में बाधा न हो तो एकताओं की अपेक्षा व्यर्थ है। अब हमारे लिए दो प्रश्न उपस्थित हैं। एक, साहित्य-कला में जिन्हें हम काव्य, नाटक, कहानी, उपन्यास आदि नामों से पुकारते हैं वे मूर्त 'अर्थ' हैं या 'अर्थ-मूर्तियाँ' हैं या अर्थ-सामग्री से निर्मित भाँति-भाँति के 'भवन' हैं। या, संगीत की भाँति काल-क्रम में स्वरों के आरोह-अवरोह से रचित ये कृतियाँ अर्थों के आरोह-अवरोह से निर्मित भाँति-भाँति के राग और रागिनियाँ हैं। चाहे इन्हें जिस रूप में देखिए, हमें पूछना है कि ये 'अर्थ-मूर्तियाँ' किस प्रकार कलाकार के अध्यात्म-लोक से प्रकट होकर रसिक तक आती हैं और किस प्रकार इनके सन्धान (Contemplation) से वह उन मूर्तियों के साक्षात्कार से रस का अनुभव करता है? दूसरा वे कौन से अर्थ हैं जिनके द्वारा साहित्यिक कलाकार इनका निर्माण करता है? इस स्थल पर अन्य अनेक प्रश्न भी उठते हैं, जैसे: ये अध्यात्म-लोक के निवासी 'अर्थ' किस प्रकार शब्दों का शरीर धारण कर हमारे मानुष-लोक में

उतरते हैं? कौन-सी अर्थ-निर्मितियाँ सुन्दर होती हैं और क्यों? इत्यादि। हम इनका उत्तर यहाँ न दे सकेंगे। परन्तु उत्तर देने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि साधारण जन का यह विचार कि कलाकार जगत् का अनुकरण करता है और प्रकृति और समाज से अनुभव द्वारा सामग्री बटोर कर कला का निर्माण करता है—निभ्रान्त नहीं है। वास्तव में कलाकार अन्तर्मुखी, अनुध्यान-परायण होकर ही अर्थों के द्वारा अपनी कृति को गर्भ के रूप में रखकर ही प्रसव देता है। यदि बाहर से प्राप्त सामग्री से कला का निर्माण होता तो सभी कलाकार एक ही वस्तु को देखकर समान रूप से उसका वर्णन करते। वस्तुतः 'अर्थों' का उद्गम अन्तरालोक है, बाह्य-जगत् उस 'आलोक' को रूप, स्थान और आधार प्रदान करता है। और, यही विज्ञान और कला में अन्तर का आधार भी है।

दूसरे प्रश्न का उत्तर पहले देंगे। हमने पहले ही कहा है कि मनुष्य का एक 'स्व' या 'व्यक्तित्व' होता है जो उसके जीवन की परिस्थितियों से बना हुआ जाल या आवरण है और उसके अध्यात्म-तत्त्व को ढँके रहता है। यह 'स्व' आकस्मिक होते हुए भी कार्य-कलाप के लिये जितना आवश्यक है उतना ही 'रस' की अनुभूति के लिए अनावश्यक। अतएव जिन-जिन अर्थों के सन्धान से 'स्व' का निर्गलन और 'परालोक' का उद्घाटन होता है, जिनके प्रभाव से सामयिक, आकस्मिक व्यक्तित्व का निराकरण होकर 'सनातन' और 'चिरन्तन' का अनुभव जगता है, उन्हीं अर्थों के माध्यम से कलाकार कला की रचना करता है। सबसे पहले ये अर्थ दिव्य और भव्य भाव हैं जो हमें 'समय' और 'सीमा' के बन्धन से मुक्त करते हैं, जैसे समुद्र, गिरि-शिखर, विशाल वन, अछोर आकाश, पवन, अग्नि, गगन-चारी प्रकाश-पिण्ड, ज्योति, जल-स्रोत, उषा और सन्ध्या, हिम-राशि। इनका चिन्तन हमें मानुषिक सीमाओं से विमुक्त करता है। मनुष्य के आदि काव्य इन्हीं दिव्य भावों पर केन्द्रित हैं। यदि साहित्य-कला में से इन्हें निकाल दिया जाय तो इसका रसोत्पादक या कलात्मक प्रभाव अवश्य ही आधा रह जायगा। इसके अनन्तर वे पदार्थ हैं जो दिव्य तो हैं साथ ही इनका

दर्शन चमत्कार और चर्वणा को जगाता है, जैसे, पुष्प, कमल और कमल-वन, सरित, सरोवर, लता, वृक्ष, पल्लव, मंजरी, भ्रमर और पक्षी तथा उनका कलरव आदि। वे काव्य-सृष्टि के सजीव प्राणी हैं। यह न समझना चाहिए कि कलाकार ने इन्हें ज्यों का त्यों बाहर से उठा लिया है—क्योंकि कवि या चित्रकार या मूर्तिकार का 'कमल' अनेक दिव्य और कलात्मक भावों से ओत-प्रोत होने के कारण साधारण कीचड़ के कमल से भिन्न है। ये दिव्य भाव वे अर्थ हैं जिन्हें केन्द्र बनाकर विश्व-साहित्य का बड़ा अंश निर्मित हुआ है।

परन्तु मनुष्य 'दिव्य' में चिरकाल तक टिकने के बाद आगे बढ़ा। उसके सम्मुख 'मानुष' भाव प्रकट हुए। सम्भवतः वैदिक काव्यों के अनन्तर वाल्मीकि ने सर्व-प्रथम 'मानुष' अर्थ को काव्य में स्थान देकर आदि कवि का पद पाया। वैदिक काव्य में अग्नि-ज्वाला, जल-स्रोत, ज्योति का उद-यास्त, आकाश में बादलों की दौड़ और न जाने कितनी दिव्य घटनाओं की अर्थ मूर्तियाँ हैं जिनमें हमारा साधारण 'स्व' विस्मृत हो जाता है। परन्तु वाल्मीकि-काव्य में दिव्य-अर्थ के गर्भ में से प्रेम, कृष्णा और वीरता के 'मानुष' भाव प्रकट होते से दिखाई पड़ते हैं। ये मानुष-लोक के सनातन भाव हैं और साहित्य-कला के कलेवर में प्राण की भाँति ओतप्रोत हैं, जीवन की नाई जगमग जगते हैं। स्यात्, अन्य भाव इन्हीं के चारों ओर ग्रह-उपग्रहों की भाँति घूमते हैं। स्यात्, प्रेम ही मूल-भूत अर्थ है और कृष्णा और वीरता जल-बीच के समान इसी के परिस्थिति-वश परिणाम और विकार हैं। प्रेम जो कला में शृंगार का नाम ग्रहण करता है मनुष्य का मौलिक अनुभव और प्रेरणा है। प्रेम का मूल-स्रोत अध्यात्मलोक है। जब यह व्यक्त होता है तो अनेक 'वेदनाओं' का रूप ग्रहण करता है, अनेक-विधि अनुभूतियों को जगाता है और अनगिन घटनाओं को प्रेरित करता है। समाज का सृजन करता है यह प्रेम; धर्म और अधर्म, पुण्य और पाप, विधि और निषेध के व्यापक विचारों को जन्म देता है। साहित्य-कला और अन्य कलाओं में दिव्य भावों के अनन्तर यही 'मानुष' भाव हैं जो इसके अंग-प्रत्यंग का निर्माण

करते हैं। यदि इन्हीं 'वेदनाओं' को सरल स्वरूप में व्यक्त किया जाता है तो ये उत्तम रस-काव्य (Lyrics) हो जाते हैं। परन्तु कलात्मक प्रतिभा की 'शरीरीकरण' स्वाभाविक प्रवृत्ति है जिस कारण ये वेदनाएँ घटना-चक्र और अभिव्यंजक 'प्रतीकों' (Symbols) को जन्म देती हैं। 'घटना' वेदना का स्वाभाविक शरीर है। घटना काल से घटित होती है और 'काल' और 'स्थान' या 'स्थिति' प्रदान करती है, किन्तु 'वेदना', 'घटना' या 'स्थान' को 'आरोह-अवरोह' रूप, 'गति', 'विकास' 'उच्छ्वास' प्रदान करता है। 'कला' और 'स्थान' का यह सम्बन्ध व्यक्त और अव्यक्त, बीज और अंकुर का सम्बन्ध है। 'घटना' काल का क्रम ग्रहण कर अपने लिए जीवन और जगत् का माध्यम ढूँढ़ती है और अभिव्यंजक सामग्री को। यह सामग्री 'प्रतीकों' के रूप में होती है। 'प्रतीक' किसी अव्यक्त वेदना या मानुष 'अर्थ' या 'आत्मलोक' के लिए प्रकट पदार्थ हैं। कला में ये प्रतीक ही दृष्टि-गोचर होते हैं। 'राम' और 'सीता', चाहे ऐतिहासिक व्यक्ति हों या न हों, सभी कलाओं के लिए अनेक भावों, वेदनाओं और अर्थों के 'प्रतीक' हैं, उनके जीवन की एक-एक घटना महान् 'अर्थ' की अभिव्यक्ति है। इतिहास के 'राम' इस कवि-प्रतिभा-सृजित 'राम' की फीकी परछाई है। 'राम' की भाँति ही, कवियों ने अनेक वीर और वीरांगनाओं के प्रतीकों को अपने अन्तरात्मा के आलोक से गढ़ा। ये प्रतीक ऐतिहासिक या अर्द्ध-ऐतिहासिक भी हुए। इतिहास ने स्यात् किसी चौराहे पर लगे हुए दिशा-सूचक बाण का काम दिया हो। परन्तु कला ने जिस प्रतीक का आविष्कार किया, उसके सम्मुख इतिहास का 'पुरुष' न केवल प्रेत की छाया की भाँति दिखाई पड़ता है, वह असत्य, धुँधला और 'अपराधी' सा प्रतीत होता है। कौन स्वीकार करेगा राम-कथा के इतिहास को (यदि वह मिल सका तो भी) वाल्मीकि और तुलसी के मानस-लोक में जन्मी हुई राम-कथा के सामने? इसी प्रकार विश्व-साहित्य में असंख्य प्रतीक कला-सृष्टि में हमारी वास्तविक कही जाने वाली सृष्टि से भी अधिक सत्य, सजीव होकर जगमगाते रहे हैं। वस्तुतः कलाकार की मौलिक प्रतिभा की पहचान ही यह है कि

वह अपने अन्तराल से 'अर्थालोक' को लेकर ज्योति और जीवन से जगमग करते 'प्रतीकों' का सृजन करे। उच्छिष्टभोजी कवि पूर्व-निर्मित प्रतीकों का प्रयोग करते हैं।

इनके अतिरिक्त कवि-प्रतिभा ने दिव्य और मानुष अर्थों का वहन करने के लिए दूसरे 'प्रतीकों' का आविर्भाव किया है। एक ऐसा प्रतीक 'नियति' या 'दैव' (Fate, Destiny) है। विश्व-साहित्य में यह 'प्रतीक' कितना व्यापक है, हम इसे यहाँ न ले सकेंगे। आशा और निराशा, वैभव और विपत्ति, शक्ति और दैन्य, जय और पराजय, त्याग और परिग्रह, आदि अनेक अर्थ हैं जो साहित्य में ओत-प्रोत हैं। हमने इन्हें 'द्वन्द्व' के रूप में इसलिए लिया है कि ये दोनों एक ही भाव के दो छोर हैं। आशा एक छोर निराशा दूसरा छोर। एक ही शक्ति एक ही छोर से दूसरे छोर तक लहरें मारती है। कला के लिए ये जीवित प्रतीक अत्यन्त महत्त्व रखते हैं। ये मानस-लोक की घटनाएँ हैं। हमारे स्थूल जगत् में व्यक्त होने के लिए इन्हें स्थूल-शरीर चाहिए। अतएव दीपक, स्रोत, पक्षी, पुष्प, तारा-नक्षत्र, सूर्य, चन्द्र आदि का उदय और अस्त, ऋतुएँ, तट, तरनी, शस्य और न जाने क्या-क्या वस्तुएँ हमारे मनोभावों के वहन करने वाले स्थूल प्रतीक हैं। प्रकृति को केवल सज्जा या पृष्ठभूमि-प्रभाव के लिए मानने वाले सम्भवतः साहित्य की उद्गम-भूमि को नहीं समझते। परन्तु समुद्र की भाँति साहित्य में विस्तार है और गाम्भीर्य भी। हम यहाँ विस्तार और गाम्भीर्य दोनों का ही विवेचन कर रहे हैं, न कि केवल विस्तार का।

आगे चलने से पूर्व एक बात और स्पष्ट हो जानी चाहिए; साहित्य शब्दार्थ-मूर्ति है। 'अर्थ' घटना का रूप धारण करके काल-क्रम से आरोह-अवरोह करता है, ठीक संगीत में 'मूर्च्छना' की भाँति। परन्तु साहित्य को छोड़कर 'अर्थ' किसी कला में नहीं रहता। पाठक अधीर न हों। संगीत स्वरों का विस्तार है। स्वरों का वैभव संगीत का शुद्ध 'रस' है। यदि वह प्रेम, द्वेष या किसी अन्य भाव को व्यक्त करता है तो स्वरों के माध्यम से 'अर्थ' को ही व्यक्त करता है और उस दशा में वह 'साहित्य' हो जाता है।

संगीत का स्वकीय गुण 'अर्थ' नहीं है, यद्यपि संगीत और साहित्य व्यवहार में अलग नहीं किये जाते। इसी प्रकार रंग और रेखा से कहानी कही जा सकती है, मूर्ति और भवन अनेक मन्तव्यों को प्रकट कर सकते हैं और करते हैं। किन्तु इन कलाओं का आत्मीय रूप अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं है। उदाहरणार्थ, चित्रकला में, रेखा की गति और लय, रंगों का उदार वैभव, छाया और प्रकाश पर परस्पर सन्निपात और समानुपात, उनका सन्तुलन और वेग, उनकी अनेक भावों की ओर ले जाने वाली शक्ति, यही 'चित्र' का शुद्ध 'आनन्द' है। स्पष्ट है कि साहित्य का मुख्य उद्देश्य अर्थाभिव्यक्ति है यद्यपि उसमें संगीत, चित्र, मूर्ति और स्थापत्य के सभी गुण गौण रूप से प्रधान उद्देश्य की वृद्धि और गौरव के लिए विद्यमान रहते हैं, और सभी कलाओं में साहित्य का प्रधान गुण—अर्थात् अर्थ—उनके अपने-अपने लक्ष्यों की पूर्ति में सहायक होता है।

प्रश्न यह भी है। साहित्य में जो अर्थ मूर्त होते हैं, क्या वे केवल मनोवेग (Emotions) ही हैं या तर्क और बुद्धिजन्य 'विचार' (Thought) के लिए भी स्थान है? क्या दर्शन और विज्ञान भी साहित्य-कला में 'रस' उत्पन्न कर सकते हैं? उत्तर यह है। जो भी पदार्थ जीवन की भाँति तरल, गतिमय, घटना चक्र में 'फिट' हो जाने वाला, और 'रसनीय' हो सकता है वह साहित्य का विषय भी हो सकता है। दर्शन और विज्ञान का विकास, विशेषतः पश्चिम में, जीवन की भूमि से उत्तरोत्तर अलग होकर हुआ है इसीलिए उसके शुद्ध तर्कों में पत्थरों का सा भार तो है परन्तु जीवन की रसमय तरलता और उर्वरता नहीं। इसके अनेक लाभ भी हैं जिनसे हमें इनकार नहीं। परन्तु साहित्य-कला के लिए नदी में किनारे पर पड़े हुए प्रस्तर-खण्डों की भाँति ये भारी पदार्थ हैं; आवश्यक तो हैं क्योंकि नदी को किनारे आवश्यक हैं और 'तल' की भी आवश्यकता है। अतएव दर्शन और विज्ञान साहित्य-स्रोत में तट और तल बाँधने का काम देते हैं। संक्षेप में, कोई तर्क या युक्ति जीवन से (जो भाव-भूमि है) सम्बद्ध होकर ही साहित्य-कला में प्रवेश पाते हैं, अन्यथा नहीं।

साहित्य-कला में 'शब्दार्थ' जमी हुई जड़ हिमानी की भाँति पिघल कर बहने योग्य हो जाता है। इसका उद्घाटन, विकास और विस्तार होता है। साहित्य-मूर्ति अर्थों का द्रव-प्रवाह है। कलाकार अनेक विधियों से इस प्रवाह को सजीव बनाता है। अन्तर्द्वन्द्व (Conflict), संकट (Crisis), चरमान्त (Climax), संघर्ष (Love triangle) आदि अनेक उपाय हैं जिनके द्वारा 'अर्थ' को अधिक समर्थ बनाया जाता है जिससे इसका प्रभाव हमारे संकुचित 'व्यक्तित्व' को चीरकर 'आत्मानुभूति' यानी 'रसानुभूति' तक हमें ले जा सके। इसका 'निर्वाह' (Conclusion या denouncement) महत्वपूर्ण होता है। किसी ने इसे स्वादु भोजन के उपरान्त शेष 'स्मृति' के समान ठहराया है या राग सुनने के बाद इसके अनुरणन या गुंजन की भाँति। साहित्य को मूर्त प्रवाह मानकर इसके 'निर्वाह' को हम स्रोत-स्विनी के अनन्त समुद्र में मिल जाने की भाँति मान सकते हैं। साहित्य में 'व्यक्त' हुआ 'अर्थ' किसी अव्यक्त, अनन्त और आन्तरिक जीवन की वेदना में मिल जाये। अव्यक्त से व्यक्त की ओर, और फिर अव्यक्त में विलीन हो जाना (अव्यक्तादीनि भूतानि-व्यक्त मध्यानि भारत इत्यादि या 'अदर्श-नादापतितः पुनश्चादर्शनं गतः') अर्थात् जो जीवन के उदय से अस्त, अदर्शन से अदर्शन, रहस्य से दूसरे रहस्य, पूर्व छाया से पश्चिम छाया का मार्ग है वही साहित्य-कला में प्रथम भूमिका से लेकर निर्वाह तक का मार्ग है। कला के लिए जितने 'प्रकाश' और अभिव्यक्ति की आवश्यकता है उससे भी अधिक 'तिमिर' और रहस्य की। कला में 'अप्रकट' और 'अभिव्यक्त' ही उसका सार है। वह निर्वचन और व्याख्या की सीमा से पार होने पर भी हृदय ग्राह्य होता है; बुद्धि से न समझे जाने पर, तर्क से न पकड़े जाने पर भी, जीवन और अपने ही 'आत्मा' की भाँति, हमें स्वीकार्य होता है। यह कला का तत्त्व सौन्दर्य-बोध का प्राण है, और साहित्य में 'प्रवेश' और 'निर्वाह' के अवसरों पर इसकी अनुभूति तीव्र हो उठती है।

(४)

अन्य कलाओं की भाँति, साहित्य-कला कुछ उपायों का उपयोग करती

है जिनसे इसका शब्दार्थ-जन्य सौंदर्यतत्त्व अधिकाधिक समर्थ हो सके। उचित शब्दों के अभाव में हम इनको 'कला-योग' कहेंगे।

हमने स्वीकार किया है कि कला एक इंगित है 'प्रकट' से 'अप्रकट' की ओर, व्यक्त से अव्यक्त की ओर इत्यादि। यह मान्यता कला-योगों का आधार है। कलाकार का तात्कालिक सम्बन्ध शब्द, अर्थ, रंग, रेखा आदि से रहता है। कृति के काल में वह इसी तत्त्व को लेकर कला का गठन करता है। उसके मनोभावों का व्यक्त कृति में 'अनुवाद' कला के रहस्यों में से एक है। रसिक भी इसी व्यक्त तत्त्व का अनुभव करता है। वह रूप, रंग, ध्वनि, स्वर आदि को मन सहित इन्द्रियों से ग्रहण करता है। परन्तु वह 'प्रकट' तत्त्व किसी 'अप्रकट' की ओर संकेत है। सुन्दर वस्तु की सफलता की माप इस 'प्रकट' और 'अप्रकट' दोनों में सजीव और गतिमय सम्बन्ध पर निर्भर है। स्थापत्य की अपेक्षा मूर्ति में और मूर्ति की अपेक्षा चित्र में, तथा इसी प्रकार अपेक्षाकृत संगीत में और सर्वाधिक साहित्य में, यह गतिमान सक्रिय सम्बन्ध रहता है। शब्द और शब्द-मूर्तियों की ओर से अर्थ की ओर और अर्थ से अर्थ के आधार आत्मा-लोक की ओर, यह अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी पुनः-पुनः होने वाला व्यापार, साहित्य में रसास्वादन का रहस्य है। साहित्य-मर्मज्ञ आनन्दवर्द्धन ने इसको 'सरस्वती' का 'निष्पन्द' कहा है। वास्तव में, यह गति 'चर्वणा' को जन्म देती है जिससे 'चमत्कार' या रस का साक्षात्कार होता है। गतिहीन काव्य निर्बल होता है और असुन्दर।

ध्वनि या स्फोट सबसे पहला कला-योग है। जिस प्रकार वीणा के एक तार को एक बार छेड़ देने पर भी वह देर तक झनझनाहट करता है, उसी प्रकार साहित्य में एक पद, या पद-समूह, या कोई लय, छन्द, गीति, अर्थ या वाक्य, एक बार प्रयुक्त होने पर, आलोक और भावों का कुछ काल तक टिकने वाला 'स्पन्दन' प्रारम्भ कर देता है। इसे ही 'ध्वनि' कहा गया है। अर्थालोक के अकस्मात् और अप्रत्याशित क्षण में फूट उठने के कारण इसे वैयाकरण स्फोट भी कहते हैं। कुछ भी कहा जाय, काव्यकला में 'व्यक्त'

से 'अव्यक्त' का अकस्मात् उद्घाटन, जैसे चिनगारी से विशाल ज्वाला का उत्थान या झरोखे से झाँकने पर विस्तृत दृश्य का वितान, उसके सौन्दर्य का बीज है। ध्वनि साहित्य में एक विरोधाभास (Paradox) का आधार है। कविता या साहित्य का कोई रूपक कितनी बात कहता है और कितनी बात अनकही छोड़ देता है? यदि सब कुछ कह दिया तो अनुचित; यदि कुछ न कहा तो कहने से ही क्या? कवि कितना कहे, कितना न कहे, और कैसे थोड़ा कहने से ही बहुत सा 'अनकहा' अर्थ रसिक तक पहुँच जाये? कहे से अनकहे तक और 'श्रुत' से 'अश्रुत' तक पहुँचने का मार्ग और विधि ध्वनि' के द्वारा समझ में आता है।

क्योंकि 'ध्वनि' कला और विशेषतः साहित्य-कला का बीज है, इसलिए इसमें 'प्रस्तुत' और 'प्रकृत' की अपेक्षा 'अप्रस्तुत' और 'अप्रकृत' का अधिक जोर रहता है। 'अप्रस्तुत' द्वारा 'प्रस्तुत' का प्रस्ताव साहित्य में महत्वपूर्ण कला-योग (artistic device) है। सामान्यतः यह योग वक्रोक्ति और अलंकार का मूल-स्रोत है। साधर्म्य और सादृश्य अलंकार का सार होता है (उपमैका शैलूपी इत्यादि)। सादृश्य रखने वाले दो पदार्थों में अप्रस्तुत (उपमान) के द्वारा प्रस्तुत (उपमेय) को दिव्य, भव्य और लोकोत्तर बनाया जाता है, कल्पना को उदार और तीव्र किया जाता है और अनेक अविद्यमान भावों से भरा जाता है। न जाने क्यों 'अलंकार' का अर्थ साहित्य में 'सजावट' किया गया। सजावट शरीर और आत्मा का अभिन्न भाग नहीं, किन्तु साहित्य में 'अलंकार' का एक विशेष और अनिवार्य कार्य है। साहित्य अलंकार के बिना असम्भव है, क्योंकि इसके द्वारा ही 'प्रत्यक्ष' और 'प्रस्तुत' को 'अप्रत्यक्ष' और 'अप्रस्तुत' के ऊँचे धरातल पर उठाया जाता है। अलंकार कला का प्रधान साधन है। इसका सर्वोत्तम उदाहरण महाभारत काव्य में मिलता है जिसमें महाकवि ने अठारह दिन में होने वाले कल्पनातीत और भयंकर जन-क्रंदन को अलंकार की शक्ति द्वारा हृदयहारी उदार दृश्यों में रूपान्तरित कर दिया है। प्रस्तुत का रूपान्तरण (Transformation of Nature) कला के मन्तव्यों में से

एक है। अलंकार क्रिया और वक्रोक्ति के द्वारा यह पूरा होता है। यह क्रिया (Metaphoric activity) कवि-प्रतिभा का प्रथम प्रसव है।

नवोन्मेष को जगाने वाले प्रतीकों का सृजन साहित्य में अन्य कला-योग है।

कला-शक्ति का उपयोग हम सांस्कृतिक, राजनैतिक तथा अन्य उद्देश्यों के लिए करते हैं; यदि उद्देश्य उचित है तो इसका उपयोग अनुचित भी नहीं। किन्तु कला स्वयं यथार्थवादी हो ही नहीं सकती। वह तो 'यथार्थ' और 'वास्तविक' के द्वारा हमें 'आदर्श' और 'अवास्तविक' भावों की ओर ले ही जायगी। 'चित्राश्व न्याय' कला को मान्य है, अर्थात् चित्र में वास्तविक अश्व हो ही नहीं सकता। वहाँ तो रंग और रेखाओं, प्रकाश और छाया की खेला है। इनकी शक्ति कल्पना को जगाती है और उस अवास्तविक तत्त्व की ओर ले जाती है जिसका स्थान और काल नहीं परन्तु जो भावों के रूप में रसिक के अन्तरालोक से ग्रहण किया जा रहा है। वह 'यथार्थ' नहीं, पर हम उसे अस्वीकार नहीं कर सकते। शाहनामे के 'सोहराब और रुस्तम' इतिहास की 'वस्तु' नहीं पर क्या हमने इस हृदयहारी कथानक को कभी अस्वीकार किया है? कभी 'नाइटिंगेल' और 'स्काई लार्क' बोले नहीं, परन्तु जब कवि ने उन्हें बुलाया तो हमसे उसे माने बिना न रहा गया। जरथुस्तु, फौस्ट, आदम, राम और कृष्ण, जो साहित्य में ज्योति-पुंजों से जगमगा रहे हैं वे कहाँ हैं? परन्तु हृदय एक क्षण भी उनके 'न होने' पर विश्वास नहीं कर सकता। साहित्य-कला 'वास्तविक', 'सत्य', 'यथार्थ' या 'इतिहास' की सामान्य परिभाषा स्वीकार नहीं कर सकती।

साहित्य-कला के दूसरे योगों का संक्षेप में ही वर्णन कर सकते हैं। जैसे—साहित्य में पुरातन और सुदूर इतिवृत्तों का ग्रहण, असाधारण और आश्चर्य-जनक चरित्रों का चित्रण, कथा, पुराण (Legends & myths), परी और पशुओं की कथाएँ (Fairy Tales & Animal Stories) का वर्णन। जहाँ 'यथार्थ' का भी चित्रण किया जाता है, वहाँ भी उद्देश्य रसिक के मन

में कल्पना को जगाने का ही प्रयत्न रहता है। उस 'यथार्थ' को 'रसनीय' बनाकर ही प्रस्तुत किया जाता है और, 'यथार्थ' में से भी 'विलक्षण' को ही ग्रहण किया जाता है।

भाषा के स्तर पर 'समस्यन्त' पदों का प्रयोग 'अर्थ' के प्रकाश को अधिक प्रबल बनाने का एक योग है। केवल 'संक्षेप' के लिए ही 'समास' का आविष्कार नहीं हुआ, बल्कि समास के द्वारा, शब्दों के मित प्रयोग के द्वारा, अमित अर्थ को बाहर फेंकने के लिए, चर्वणा को तीव्र बनाने के लिए, इसका साहित्य में उपयोग हुआ। पदों में नृत्य सी गति, वीणा आदि वाद्यों की झंकार, पवन, स्रोत आदि जैसा वेग, अनेक गन्ध और वर्णों का सौष्ठव, मूर्तियों जैसा मूर्तत्व और भवनों जैसा भव्यविन्यास सभी रहते हैं, तभी तो साहित्य-कला में विश्व का सम्पूर्ण वैभव, हृदय के अखिल भाव, आत्मा का सारा प्रकाश, बुद्धि के सारे विलास और मन की गम्भीर वेदना सभी तो यथावत् उतर आते हैं। साहित्य में 'सृजन' और 'रस' की सीमाएँ नहीं हैं।

(५)

अन्त में, साहित्य अपने शब्दार्थ रूप माध्यम और अन्य योगसाधनों द्वारा रसिक को परिस्थितियों के आकस्मिक जालों से बुने हुए, समय और सीमा के बन्धनों से आवद्ध 'व्यक्तित्व' से मुक्त कर उसे उदार अर्थों के प्रकाश में ले जाता है। यह अर्थों का आलोक रसिक के स्वकीय आत्मा का आलोक है। रसास्वादन की क्रिया में जितना 'स्व' को खाली किया जाता है उतना ही वह 'प्रकाश' और 'आनन्द' से भरता है। वास्तव में, 'सौंदर्य' कोई ठोस वस्तु नहीं है, उसका तत्त्व रसास्वादन की क्रिया है। वह क्रिया एक ओर आत्मा के आवरण को अनेक 'युक्तियों' से 'भंग' करती है (जिसका हमने ऊपर वर्णन किया है) दूसरी ओर अनेक रस-स्रोतों से जिनमें अर्थ की आलोक किरणें स्पन्दन करती हैं वेग से भर देती है। यह रसास्वादन की क्रिया ही साहित्य कला में सौंदर्य का सार है।

अलंकार—एक भयंकर भ्रान्ति

भारतीय साहित्य-मीमांसा में 'अलंकार' शब्द का प्रयोग भयंकर रूप से भ्रामक सिद्ध हुआ है, क्योंकि इस शब्द के उच्चारण के साथ ही सज्जा, प्रसाधन, परिष्कार, आभूषण आदि का बोध मन में उठता है, जो मानव-शरीर के लिए सम्भव होते हुए भी भाषा के लिए सम्भव और संगत नहीं है। यह भ्रम सम्भवतः 'साहित्य-पुरुष' के रूपक से उठा : साहित्य एक पुरुष है, जिसकी आत्मा रस है, रीति, गुण आदि उस पुरुष के गुण हैं, और अलंकार उसके आभूषण हैं। या, अर्थ को आत्मा और वाक् को शरीर मानकर चलने में भी इनको अलंकृत बनाने की आवश्यकता प्रतीत होने लगती है। कुछ भी कारण रहा हो, कला-मीमांसा के मूलाधार भरत के नाट्यशास्त्र से लेकर जिसमें केवल ४ अलंकारों की चर्चा है आज तक इनकी संख्या सैकड़ों में हो गई है, और, यदि आधुनिक काव्य में रूढ़िवाद के विरोध से इन पर रोक न लगी होती तो आज न जाने इनकी क्या संख्या होती ! 'रूपक' को बहुत दूर तक खींच ले जाने का यह दुष्परिणाम हुआ।

वस्तुतः अलंकार या अलंकरण की सारी संकल्पना इस बात पर आधारित है कि काव्य में अर्थ और भाषा अलंकार्य हैं, इनकी सज्जा उचित और सम्भव है। यह वाद हमारी मति को काव्य की प्रमुख समस्या से दूर हटा देता है जो समस्या है कि काव्य में अर्थों की अभिव्यक्ति कैसी होनी चाहिए जिससे रसानुभूति, चमत्कार और चर्वणा उत्पन्न हों। साहित्य में अर्थ एवं शब्द की संगति रहती है। अर्थ अनुभूति का मुखर रूप है; अनुभूति का आधार जीवन है। जीवन चेतन भी है और अचेतन भी; वह व्यापक और विराट है। वह हमारी सत्ता का स्रोत है, और, अनादि काल से चलता हुआ वह

अनन्त भावी की ओर जा रहा है। वह एक प्रवाह के रूप में, उच्छ्वास भरता हुआ, अपने ही अन्तर में, यदाकदा अनुभूत भी होता है। हमारी आशा व निराशा, साहस, विषाद, राग-विराग, चेष्टा, इच्छा आदि सभी कुछ इसी जीवन की धारा से उठती हुई स्फूर्तियाँ हैं। जीवन अपने विस्तार व विकास के लिए विश्व की बाह्य परिस्थितियों में मन, बुद्धि, प्राण, शरीर के द्वारा निरन्तर क्रिया करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये सब जीवन के अधीन रहने वाले यंत्र हैं। सम्पूर्ण 'व्यवहार' जीवन के लिए है, और, कुछ सीमा तक, ज्ञान भी व्यवहार की सिद्धि के लिए होता है। जब बुद्धि ज्ञान का संचय स्वतंत्र होकर अपने लिए और अपनी मर्यादा व मान्यताओं के अनुसार करती है तब उसे 'विज्ञान' कहते हैं। किन्तु ज्ञान, विज्ञान व व्यवहार के अतिरिक्त भी, जीवन की अपनी आवश्यकता है। वह 'व्यक्त' होना चाहता है, और, धर्म, संस्कृति, सभ्यता, समाज की राजनीतिक, आर्थिक व्यवस्थाओं में वह व्यक्त होता भी है। ईश्वरीय 'सर्ग' के अतिरिक्त जो कुछ भी यहाँ है वह जीवन की ही अभिव्यक्ति है। इस अभिव्यक्ति का एक रूप 'मूर्त्तता' है जिसे कला कृति कहते हैं। कला जीवन की मूर्त्त अभिव्यक्ति है, और, यह अभिव्यक्ति सबसे अधिक आवश्यक है क्योंकि इसके द्वारा जीवन को रस-लाभ होता है। रस से जीवन पुष्ट होता है, उसे अलौकिक आह्लाद प्राप्त होता है जो व्यवहार व ज्ञान या पूर्त्ति व तृप्ति से नहीं मिलता। इसी उत्तेजना व उत्पीड़न से रहित, सुख-दुःख, हानि-लाभ, आदि 'तनाव' उत्पन्न करने वाले द्वन्द्वों से ऊपर, रसानुभूति को पाने के लिए जीवन की प्रबल व सहज प्रेरणा है जिससे कला का निर्माण होता है।

वस्तुतः कला व साहित्य के लिए अलंकरण की समस्या है ही नहीं। समस्या है मूर्त्त अभिव्यक्ति की : क्या अभिव्यक्त हो और कैसे? जीवन ही अपने विविध, विराट् और उन्मुक्त रूप में अभिव्यक्त होता है। प्रश्न यह है कि क्या अलंकरण की प्रक्रिया के द्वारा जीवन का यह रूप अभिव्यक्त किया जा सकता है? यदि इसका अर्थ प्रसाधन या सज्जा है तो हमारा उत्तर है : कभी नहीं। हाँ, अलंकरण की प्रणाली में, यदि हम इसे अभि-

व्यक्ति का एक प्रकार मान कर अवगाहन करें तो, कुछ तथ्य अवश्य मिलेगा। परन्तु उस स्थिति में इसका अर्थ ही बदलना पड़ेगा।

हम मानते हैं कि कला में जीवन की सरलतम, निकटतम, प्रखरतम और सधुरतम अभिव्यक्ति होनी चाहिए। अलंकरण की क्रिया (Metaphoric activity) के द्वारा जीवन का अवगाहन करके कवि शब्दार्थ की सुन्दर मूर्तियाँ पैदा करता है। यह क्रिया उसका प्रमुख साधन है, क्योंकि जीवन के विराट्, तरल, आभ्यन्तरिक अन्तराल को जहाँ अनुभूतियाँ तरंगें मारा करती हैं, जहाँ शक्ति है किन्तु उसको प्रकाशित करने के लिए धूमिल आभा ही छिटकती है, जहाँ आत्म-उद्योति की अनेक धाराएँ बहती हैं, किन्तु जिन्हें विचार या कल्पना नहीं पकड़ पाते,—इस अन्तराल को कवि कुछ उपायों द्वारा ही अवगाहन कर पाता है। अलंकरण इन्हीं उपायों में से एक है। किन्तु अब हम इसे 'रसावगाहिनी' क्रिया कहेंगे अलंकरण जिसका दुर्नाम है।

(२)

रस-चेतना अथवा रस का अवगाहन, अनुसन्धान या ग्रहण करने वाली क्रिया का क्या स्वरूप है? इस क्रिया की निम्नलिखित कई विधाएँ सम्भव हैं:—

१. सादृश्य-निबन्धना क्रिया : रसावगाहन की यह सहज क्रिया है। मनुष्य अपने आन्तरिक भावों व अनुभूतियों का सादृश्य, साधर्म्य अथवा आंशिक साम्य जगत् के पदार्थों में स्वभावतः खोजता है। यदि यह सादृश्य 'सुन्दर' मिल गया तो भावाभिव्यक्ति के लिए मानो 'द्वार' मिल गया जिससे आह्लाद उत्पन्न होता है। यह 'चमत्कृति' का 'आधायक' सुन्दर सादृश्य काव्य में उपमा का बीज है, और, उपमा स्वयं उस 'शैलूषी' की भाँति है जो रंगमंच पर पुनः पुनः आवश्यकतानुसार वेष बदल-बदल कर काव्य में आती है। सुन्दर सादृश्य के द्वारा रस-चेतना की अभिव्यक्ति करना कलाकार की प्रतिभा का वह सहज प्रयत्न है जिसके द्वारा वह अनभिव्यंग्य को व्यंजित, अमेय को मेय, अज्ञेय को ज्ञेय बनाने में सफल होती है। आत्मा-लोक की अनेक प्रकाश-स्फूर्तियाँ, जीवन-प्रवाह की कई लहरियाँ तथा

अनुभूति के कोटिशः प्रकार, उपमा क्रिया द्वारा ही ग्रहण किये जा सकते हैं : अन्य कोई विधा इतनी सरल व सहज नहीं होती। अतएव किसी कवि के सम्पूर्ण काव्य की मीमांसा केवल उसके उपमा-प्रयोगों के परीक्षण द्वारा की जा सकती है। कालिदास की उपमाएँ प्रसिद्ध हैं, क्योंकि वे अपने नाटक में शकुन्तला के रूप-लावण्य को दुष्यन्त की प्रेम-मुग्ध दृष्टि से देखकर उठने वाली अनुभूति को व्यक्त करने के लिए अनेक एवं चमत्कारी सादृश्य खोज निकालते हैं : अनाघ्रातं पुष्पं, किसलय मलूनं कररुहैः। अनाविद्धं रत्नं, मधु नवमनास्वादित रसम्। अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं—इत्यादि अर्थात् शकुन्तला का अनघ रूप अनाघ्रात पुष्प की भाँति, या, उस किसलय दल की भाँति है जिसे अभी उँगलियों से स्पर्श भी नहीं किया गया। वह अनाविद्ध रत्न की भाँति है, या, उस नव मधु की भाँति जिसका रस अभी नहीं चखा गया। इन सादृश्यों में रूप, कोमल स्पर्श, गन्ध, रस, दीप्ति आदि की व्यञ्जनाओं को देखिए जो हमारी सारी इन्द्रियों को मानो मधु से आप्लावित कर रही हैं। कालिदास के काव्य में पद-पद पर ऐसी ही उपमाओं की ज्योति फैली हुई है कि शरीर, मन, प्राण, बुद्धि व चित्त को महाप्रसाद का लाभ होता है। ये उपमाएँ भाषा का शृंगार या केवल प्रसाधन मात्र नहीं हैं, प्रत्युत उसके अन्तरंग अंग हैं जिनको निकाल देना असम्भव है, और, यदि इन्हें काव्य से निकाला तो काव्यत्व ही नष्ट हो जायगा।

कालिदास ही क्यों, वैदिक काव्य में, वाल्मीकि, व्यास, भवभूति, तुलसी, सूर ही क्या, विश्व के महान् काव्यों में, सादृश्य द्वारा रस-चेतना का अव-गाहन हुआ है। किन्तु यह 'सूक्तिधेनुः सरस्वती' असंख्य कवियों द्वारा 'दोहन' किये जाने पर भी 'अदुग्धा' की भाँति ही प्रतीत होती है। किसी भी कवि की कृति के आस्वादन और समीक्षा के लिए केवल उसकी उपमाओं का अध्ययन करना पर्याप्त होगा क्योंकि यह उसकी सृजनात्मिका प्रतिभा का सहज रूप होता है।

२. अभेद-निबन्धना क्रिया : सादृश्य के निकट, और, सादृश्य की चरम सीमा पर घटने वाली क्रिया, 'अभेद' से उत्पन्न होती है जो रूपक आदि

कई 'अलंकारों' का आधार है। 'सादृश्य' में दो 'असदृश्य' वस्तुओं का भेद मन में रहता है : स्नपयति हृदयेशं स्नेहं निस्यन्दिनी ते, धवल वहल मुग्धा दुग्ध कुल्येव दृष्टिः। अर्थात् स्नेह का निस्पन्द वहाने वाली, धवल वहल मुग्धा, दूध की कुल्या के समान तेरी दृष्टि 'हृदयेश' को स्नान कराती है। यहाँ इस भवभूति के वाक्य में 'दृष्टि' और 'दुग्धकुल्या' में चमत्कारी 'परिणाम' (स्नान रूप) उत्पन्न करने वाला सादृश्य है। प्रिया अपने 'हृदयेश' को किस निर्मल दृष्टि से देखती है—मानो भवभूति ने सीता जी की आत्मा में प्रवेश कर इस निर्मल प्रेम-निष्पन्द को देखा है। किन्तु इसकी अनुभूति को 'आकार' कैसे मिले? प्रिया की प्रेममयी दृष्टि का जिससे वह 'हृदयेश' को देखती है 'दुग्धकुल्या' से सादृश्य इस अनुभूति की निकटतम अभिव्यक्ति है। किन्तु यह 'सादृश्य' मानो 'अभेद' से एक अंश कम है। राम के मुख से भवभूति ने प्रिया के प्रति प्रेम को इसी अभेद द्वारा व्यक्त किया है : त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं, त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमंगे। 'तुम मेरे जीवन हो (केवल जीवन के समान नहीं), तुम मेरे दूसरे हृदय हो, तुम मेरे नेत्रों की कौमुदी, और, मेरे शरीर की अमृत हो।' इस अभेद से व्यंजना और भी प्रखर हो जाती है। वस्तुतः यह रसानुभूति का वह प्रबल रूप है जब सादृश्य को ग्रहण न करके मन तादात्म्य की ओर चलता है। सादृश्य में दो वस्तुओं में विम्ब-प्रतिविम्ब भाव बना रहता है; बुद्धि को इसे ग्रहण करने में यत्किंचित् कष्ट होता है। किन्तु जब बुद्धि स्वयं रस में आकण्ठ निमग्न हो जाती है तब उसे इस भेद को ग्रहण करने की सामर्थ्य कहाँ? अभेद का उदय मानो, अलंकार शास्त्रियों की भाषा में, विषय और विषयी का पूर्णरूपेण 'निगरण' कर देता है। मानना होगा कि विश्व के महाकवियों ने इस क्रिया द्वारा रस-चेतना के बड़े भाग का अवगाहन किया है।

३. रूपान्तरण क्रिया : ४. भावना की स्थानान्तरण क्रिया : कवि सृजन के प्रयास में एक ओर बाह्य पदार्थों को अपनी अनुभूतियों का 'वाहन' बनाता है, दूसरी ओर उन पदार्थों में 'चेतना' भर कर उन्हें रूपान्तरित कर देता है। 'वाह्य' और 'अन्तर' का यह सम्बन्ध अभिव्यक्ति के लिए

आवश्यक है। बाह्य और अन्तर के आदान-प्रदान से दोनों में रूपान्तर होता है। कवि का 'कमल' अनेक भावों का आधार है, वह साधारण कीचड़ का कमल नहीं है। अनेक भावों और भावनाओं को वहन करने के कारण बाह्य कमल में चेतना के गुण प्रकट हो जाते हैं, और, कमल के गन्ध, निर्मलता, निर्लिप्तता, वर्ण-सौष्ठव आदि गुण भावना को व्यक्त शरीर प्रदान करते हैं। कमल ही क्यों, सुमनों का संसार कोमलता की भावना को वहन करता है; समुद्र व आकाश भावना को विराट् रूप प्रदान करते हैं तभी तो हृदय-कमल, हृदय-सिन्धु, शोक-सागर, हृदयाकाश आदि पदावली का अर्थ हृदयंगम किया जाता है। दीपक, स्रोत, चलदल, तरंग, भ्रमर, वन और उसकी मर्मराली, ज्वाला, घन, विद्युत्, पर्वत और उसके उच्च शिखर, हिम, आतप, सूर्योदय, सूर्यास्त, नक्षत्र, चन्द्रमा आदि अनन्त पदार्थ हैं जो मनुष्य की भावनाओं का भार वहन करते हैं। कभी आत्मा के प्रसाद, कभी विषाद, चंचलता, गति, आशा, नैराश्य आदि असंख्य मनोभाव इनके माध्यम से व्यक्त होते हैं। इसके द्वारा हमारे अनुभव का साधारण संसार 'चमत्कार' में रूपान्तरित हो जाता है। व्यास ने महाभारत के भयावह युद्ध का वर्णन करते समय सैकड़ों जगह रुधिर के प्रखर प्रवाहों को बहाया है जिसमें राजाओं के मणि-मण्डित मुकुट सुन्दर शफरी की भाँति बह रहे हैं; हाथी मानो महा नक्र-मकर आदि हैं; सोने के आभूषणों से लदे कटे हुए हाथ उसमें तैरते हुए सर्प हैं—इत्यादि। कैसा रोमांचकारी है यह स्रोत, किन्तु सब प्रकार से पूर्ण, विलक्षण, महान् ! भावनाओं का यह स्थानान्तरण एक ओर अभिव्यक्ति का सहज मार्ग है, और, दूसरी ओर है बाह्य पदार्थों को, यहाँ तक कि भयावह, रोमांचकारी, अरूप, विरूप आदि को भी, रूपान्तरित करने का केवल एक कलात्मक योग।

अब तक की परम्परा के अनुसार हम केवल प्रकृति के दिव्य व भव्य आकारों को ही रसाभिव्यक्ति के लिए प्रयोग करते आये हैं। इनमें 'अतिशयकरण' (Idealization) के लिए गुंजाइश होती है। धर्म की गम्भीर अनुभूतियों को तथा जीवन की वर्णनातीत वेदनाओं को भी व्यक्त रूप देने

के लिए अगणित प्रतीकों का प्रयोग काव्य में होता है। किन्तु प्रत्येक युग अपने अनुभव के अनुरूप नवीन प्रतीकों का सृजन करता है। अतएव आज के काव्य में मिलों के भोंपू का नाद, मशीन की घर्घर, अणु बमों का विस्फोट, गरीब की झोपड़ी में से निकलते हुए धुएँ का टेढ़ा-मेढ़ा मार्ग, मजदूर की स्त्री के बिखरे, धूसर केश आदि स्वभावतः दीख पड़ते हैं। अनुभूति के व्यक्त रूप में 'अतिशय' उत्पन्न करने के लिए इन वस्तुओं का काव्यात्मक उपयोग होता है। इसके अतिरिक्त, सम्भव है कि अनुभूति में कुछ स्वाभाविक जड़ता, शीतलता या शैथिल्य हो, जैसे दीनता का वर्णन करने में, या उसकी वेदना को रूप देने में। इन क्रियाओं द्वारा भावना को 'द्रव' (Emotionalization of experience) उष्ण, प्रखर आदि बनाने में कवि को सफलता भी मिलती है। कुछ भी हो, कवि असदृश वाह्य पदार्थों में भी अपनी भावनाओं का द्रवित, उष्ण भार भरने का सहज प्रयत्न करता है।

५. सूक्ष्म भावों का स्थूलतापादन : ६. प्रतीकानुसन्धान : ये दोनों क्रियाएँ काव्याभिव्यक्ति में सूक्ष्म को स्थूल और स्थूल को सूक्ष्म बनाकर सहायक होती हैं। वेदना, हर्ष, भय आदि सूक्ष्म मनोभाव हैं। इनका सरल, सहज व प्रभावोत्पादक वर्णन कैसे हो ? इसकी एक विधा स्थूलतापादन है : रसायन की पुटपाक प्रक्रिया में दो पुटों के बीच में जलता हुआ रस निकलना चाहता है, पर क्या निकल पाता है ? वेदना का इससे स्पष्ट मूर्तरूप क्या हो सकता है ? सीता के विरह में छटपटाता हुआ किन्तु राजधर्म की मर्यादाओं में आवद्ध राम के मन की वेदना 'पुटपाक प्रतीकाश' में भवभूति जैसे कवि-मनीषी ही व्यक्त कर सकता है। मन की डगमग अवस्था का वर्णन जो सही व सजीव हो तुलसी "पीपर पात सरिस मन डोला" की पदावली द्वारा कर सके हैं। भगवान् की अनन्य शरण जाने की भावना है। इस अनन्य भावना को कैसे व्यक्त करे ? "जैसे उड़ जहाज को पंछी उड़ि जहाज पै आवे।" यह सूरदास का अनुभूति को स्थूल बनाने का सुन्दर योग है। काव्य में यह परीक्षण का विषय हो सकता है कि कवि कहाँ तक अपने अन्तरालोक के सूक्ष्म भावों को 'स्थूल', इन्द्रिय ग्राह्य और आस्वादन योग्य बना

पाया है। भाषा के अनगिन प्रयोग (Idioms) इस क्रिया के परिणाम हैं; जैसे, आँखों आगे अँधेरा छाना, हाथ मलना, गहरी चोट, हृदय खिल उठना, हरा हो जाना, जलन होना, इत्यादि असंख्य प्रयोग हैं जो हमारी साधारण बोलचाल में काव्यात्मक होने के कारण घुलमिल गये हैं। ये स्थूलतापादन के ही विविध रूप हैं, किन्तु इनकी इयत्ता नहीं हो सकती। कवि अपनी प्रतिभा से नूतन प्रयोगों की सृष्टि करता है। “हृदय मानो जल रहा है”, “आकाश मानो रो रहा है”, इत्यादि पदावली में उत्प्रेक्षा का सहज स्वरूप उपलब्ध होता है। अन्य अलंकार भी इसी क्रिया से निष्पन्न होते हैं।

स्थूलतापादन का विपरीत प्रतीकानुसन्धान है जिसे हम (Symbolization of Experience) कह सकते हैं। इस प्रक्रिया के द्वारा हम स्थूल को सूक्ष्म बनाते हैं। माता, पिता तथा अन्य सामाजिक सम्बन्ध, राष्ट्रीय पताका, राष्ट्रीय गान, देश, मातृभूमि, स्वदेश के पर्वत, नदी आदि स्थूल पदार्थ हैं जिनकी स्थूल रूप में कोई महत्ता नहीं। किन्तु जब ये कवि या साधारण जन की भी कल्पना द्वारा अनेक भावनाओं के आधार बन जाते हैं तो इनकी स्थूलता कम हो जाती है, और, जीवन में अनेक मूल्यों, आध्यात्मिक निधियों के स्रोत बन जाते हैं। इस दशा में साधारण जन्म-भूमि, मातृभूमि या पितृभूमि बन जाती है, राष्ट्रीय पताका भावनाओं से सराबोर हो जाती है। काव्य में ये प्रतीक अनन्त हैं, और, प्रत्येक युग अपने अनुरूप प्रतीकों का सृजन करता है। साधारण पदार्थ को भी जो चर्म चक्षुओं के लिए केवल पार्थिव द्रव्य हैं, हम स्वयं आध्यात्मिक होने के कारण आध्यात्मिकता प्रदान करते हैं। आत्मा का आलोक व गाम्भीर्य हम यों तो सभी साधारण क्रिया व द्रव्यों को देते हैं; किन्तु मातृत्व, गुरुत्व, देश, धर्म आदि प्रतीकों को तो हम ‘दिव्य’ बना बैठे हैं। काव्यानुभूति के अवगाहन के लिए स्थूल को सूक्ष्म, और, सूक्ष्म को स्थूल बनाने की क्रियाएँ बहुत उपयोगी हैं।

७. रसावगाहिनी क्रिया का एक रूप अनुभूति का ‘उत्तेजन’ (Intensification) होता है। साधारणतया यह उत्तेजन विशेषणों के प्रयोग द्वारा सिद्ध किया जाता है। विशेषण के प्रयोग का प्रयोजन ही चेतना

के आलोक को बढ़ाना होता है, जैसे, पुष्प को सुन्दर पुष्प कहना, जल को निर्मल जल बताना आदि। भाषा में कई विशेषण तो प्रयोग में अधिक आने से मानो कुंठित या प्रभावहीन हो गये हैं। अतएव 'प्रभाव' को उत्पन्न करने के लिए नूतन और प्रबल विशेषणों के आविष्कार की आवश्यकता होती है। अध-कचरे साहित्य में निर्जीव विशेषणों की भरमार होती है। परिपक्व साहित्य में विशेषणों के बिना भी वही 'उत्तेजन' प्रभाव सिद्ध कर लिया जाता है, या, फिर नूतन और नुकीले विशेषणों का प्रयोग होता है। किसी भाषा में प्रयुक्त विशेषणों के अध्ययन से उसके विकास, शक्ति, व्यञ्जना शैली आदि का पता लगाया जा सकता है। काव्य में तो इनका प्रयोग अनेक प्रकार से उलट-पुलट कर, चमत्कार व चर्वणा उत्पन्न करने के लिये होता है। विशेषणों का सम्यक् प्रयोग कई 'अलंकारों' का जनक होता है।

किन्तु रस-चेतना के उत्तेजन का दूसरा प्रकार है हमारी तर्कनिष्ठ बुद्धि को उलट-पलट देना—या, कहिए जान-बूझकर असंगति उत्पन्न करना। साधारणतया कारण व कार्य साथ चलते हैं। किन्तु कारण विद्यमान होने पर भी कार्य न होना, या, बिना कारण भी कार्य की उत्पत्ति हो जाना काव्यगत असंगति है जिसका एकमात्र प्रयोजन मानो 'चेतना' को 'धक्का' देकर उत्तेजित करना है। उदाहरणार्थ : शिव जी ने अपने तीसरे नेत्र से काम को भस्म कर दिया। साधारण पति की भाँति, काम रति से कहा करता था कि तुम तो मेरे हृदय में रहती हो; किन्तु यदि यह उक्ति सत्य थी तो काम जो 'आधार' था जल गया, पर उसका 'आधेय' रति नहीं जली। यह तो आधार-आधेय व कारण-कार्य सम्बन्ध की असंगति है। "हृदये वससीति मत्प्रियं यदवोचस्तदवैमि कैतवम्। उपचारपदं न चेदिदं त्वमनंगः कथमक्षता रतिः" कालिदास ने इस उपाय द्वारा अज-विलाप व रति-विलाप के अन्तर्निहित विषाद को उत्तेजित किया है। अनेक प्रकार से कवि असंगति के सृजन द्वारा यह प्रभाव सिद्ध करते हैं।

८. उद्दीपन (Illumination) इसी से मिलती-जुलती क्रिया है। चेतना को असाधारण रूप से उद्दीप्त करना कवि का अभिप्राय होता है।

यह अभिप्राय कल्पना द्वारा 'नवीन' सम्बन्धों की सृष्टि से सिद्ध होता है। हम अपने चेतन अस्तित्व के थोड़े भाग से परिचित होते हैं। कल्पना के बल से चेतना में नूतन क्षितिजों का उद्घाटन होता है; जैसे, काव्य में कई बार कवि अनूठे कल्पना-चित्रों को उपस्थित करता है जो साधारण अनुभव के स्तर पर सम्भव ही नहीं होते। सुवर्ण-शृङ्ग, क्षीर-सागर, कल हंस, अमृत-कलश आदि ऐसी मानस-सृष्टियाँ हैं जो चेतना को आलोकित करती हैं। धर्म ने जिन दिव्य नायक-नायिका, दिव्य लोक, भव्य-भोग, अद्भुत पदार्थों की कल्पना की है, उसकी मूल-प्रेरणा का आधार मनुष्य में नूतन कल्पना के आलोक को जगाना ही है। इस धरातल पर धर्म व कला मिलते हैं। काव्य इसीलिए साधारण से असाधारण की ओर अधिक प्रवृत्त होता है। साधारण की ओर ध्यान कम जाता है, और, असाधारण में सारा अवधान केन्द्रित हो जाता है। काव्य तो साधारण को भी असाधारण, अपूर्ण को भी पूर्ण, बनाने का प्रयत्न करता है। अतः काव्य में उन्मीलित लोक, काल व नर-नारी, इतिहास के व्याज से, केवल मानस-प्रसूत होते हैं, क्योंकि कवि का चरम उद्देश्य तो मानस को ही आलोक व आल्लास से आप्लावित कर देना है।

९. अनुभूतियों का परस्परान्वय (Inter linking of experiences)
यों तो कोई भी अनुभव चेतना की धारा में पृथक् या विविक्त नहीं किया जा सकता। एक अनुभव दूसरे में लिपटा रहता है। किन्तु काव्याभिव्यक्ति में यह 'लिप्तता' और भी स्पष्ट हो जाती है : एक अनुभूति दूसरी अनुभूति के प्रभाव को बढ़ाती है। सामान्य और विशेष आपस में अन्वित रहते ही हैं। कभी सामान्य की उक्ति विशेष को, या, विशेष का कथन सामान्य को प्रकाशित एवं पुष्ट करता है। अर्थान्तरन्यास, उदाहरण आदि 'अलंकार' इस क्रिया की उपज हैं। कभी-कभी तो एक ही सम्बन्ध अनेक प्रकृत और अप्रकृत विषयों को अँधेरे कमरे में अकस्मात् विजली के प्रकाश की भाँति चमका देता है। इसका नाम दीपक है अप्रस्तुत व प्रस्तुत का सम्बन्ध अन्योक्ति आदि अलंकारों में रहता है। तात्पर्य यह है कि अनुभूतियों के परस्पर

अनेकविध सम्बन्ध एक दूसरे के वैभव व प्रभाव को बढ़ाते हैं। काव्य में इनको और भी स्पष्ट और प्रखर बनाया जाता है।

१०. अनेक अर्थों का घनीभाव (Condensation of meanings)
काव्य के उपयोगी कला-योगों में से है, क्योंकि इसके द्वारा बुद्धि को एक ही स्थल में अनेक अर्थों की पत्तें मिलती हैं, और, वह मानो उन आलोक की पत्तों को खनन करने के कार्य से वास्तविक रूप से 'प्रसन्न' होती है। अर्थ स्वयं आत्मा का आलोक या ज्योति का एक खण्ड है जिसे बुद्धि पाकर यूँही प्रसन्न होती है। काव्य में ये अर्थ विशेष आह्लाद उत्पन्न करने वाले होते हैं, और, यदि ये अर्थ एक ही शब्द या पदावली में एकस्थ होकर आलोक का विसरण करें तो बुद्धि के प्रसाद का ठिकाना क्या? विरोधाभास, श्लेष, यमक, रूपक आदि अलंकारों में कई-कई प्रतीयमान और अप्रतीयमान अर्थ पत्तों में लिपटे मिलते हैं। वास्तव में यह अधिक से अधिक अर्थ को थोड़ी से थोड़ी पदावली में व्यक्त करने का मार्ग भी है, जिसे हम अर्थों का केन्द्रीकरण (Concentration of meanings) भी कह सकते हैं, या, 'मित प्रयत्न से अमित प्रभाव' (Parsimony of efforts) उत्पन्न करने का योग कह सकते हैं। कुछ भी नास दीजिए यह निश्चित है कि काव्य में इस योग का बहुत उपयोग किया जाता है। एक उदाहरण रति-विलाप (कुमार-सम्भव) में से लीजिए : गत एव न ते निवर्त्तते, स सखा दीप इवानिला इतः। अहमस्य दशेव पश्य मामविषह्य व्यवसनेन धूमिताम्। रति काम के मित्र मधु से रोकर कहती है कि तेरा सखा तो गया, अब लौटेगा नहीं जैसे वायु द्वारा बुझाया हुआ दीपक, मैं इस दीपक की 'दशा' की भाँति हूँ, जो असह्य वेदना से 'धूमित' हो रही हूँ। यहाँ दीपक, 'दशा' और धूमित शब्दों पर ध्यान दीजिये। दीपक और जीवन का साम्य कैसा अनूठा है, और, वायु द्वारा दीपक का बुझ जाना 'मृत्यु' का कैसा चमत्कार उत्पन्न करने वाला रूपक है। किन्तु दीपक की 'दशा' या वृत्ती बुझने पर कितना धुआँ देती है। यह धुआँ रति के बुझे हुए दीपक का विषाद है। 'दशा' और 'धूमित' शब्दों के श्लेष में कितने अर्थों का आलोक कवि ने व नीभूत

कर दिया है। परन्तु स्मरण रहे यह कवि सरस्वती का मानस-प्रसूत कालिदास है।

यह कुछ संयोग ही नहीं, सहज प्रतीत होता है कि भाषा में समास और अलंकार लगभग साथ चलते हैं। पदों का समास केवल शब्दों की किफायत के लिए नहीं होता। संसार की सभी विकसित भाषाओं में समास का प्रयोग होता है। इसके कई प्रयोजन होते हैं, जैसे, संक्षेप करना, नवीन पदावलियों का आविष्कार करना, बहुल अर्थ को अल्प में समेटना तथा शब्द-संग्रह से अर्थों के आलोक को चमकाना। शब्दों के समास से अर्थों का समास होता है, और, 'समस्त' अर्थों का व्यास करने में बुद्धि को परम तृप्ति मिलती है। इसीलिए अनेक अलंकारों में इस विधा का प्रयोग किया जाता है।

(३)

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट होगा कि काव्य की समस्या भाषा या भावों को सजाना नहीं है, प्रत्युत शब्दार्थ के माध्यम से जीवन व अनुभूति को व्यक्त करना है। सजाने के अर्थ में अलंकार का प्रयोग भयंकर ऐतिहासिक भ्रान्ति है क्योंकि इसके कारण संस्कृत और हिन्दी साहित्य में युगों तक कृत्रिम साधनों से 'सज्जा' की ओर कवि-प्रतिभा लगी रही, और, फल यह हुआ कि सजाने के प्रयत्नों से भाषा या भाव सजे नहीं, क्योंकि यह असम्भव था; इसके विपरीत साहित्य में कृत्रिमता, दुरुहता तथा असंयम पैदा हो गया। अलंकार-ग्रन्थों की झड़ी लग गई। इन सब अलंकार ग्रन्थों में पण्डितराज जगन्नाथ का रसगंगाधर अलंकार-विवेचन व गम्भीर मनोवैज्ञानिक खोज पर आश्रित होने के कारण सराहनीय है। किन्तु उसमें विवेचित सारे अलंकार ऊपर वर्णित मानसिक क्रियाओं की उपज हैं। इन अलंकारों में कुछ तो केवल 'उक्ति' मात्र के भेद, केवल वाक्-छल या वाग्-जाल या कथन की 'भंगियाँ' मात्र हैं जिनमें 'अलंकारता' भी विशेष नहीं है। कवि-प्रतिभा जिससे वह 'सृजन' करता है अलंकरण की खोज नहीं करती। वह जीवन से स्फूर्ति की भाँति उठती हुई रस-चेतना को मूर्त बनाने का प्रयत्न

करती है। यह प्रयत्न जितना सफल व परिपक्व होगा, अभिव्यक्ति उतनी ही सरल, सहज, सत्य व समर्थ होगी। सजाने के अर्थ में प्रयुक्त अलंकरण द्वारा यह सम्भव नहीं। किन्तु रसावगाहन की अनेक सहज क्रियायें हैं जो प्रतिभा से उदित होती हैं। ये क्रियाएँ अभिव्यक्ति की आधार हैं। तथा-कथित अलंकारों के मूल में भी ये, एक-एक नहीं कई मिलकर भी, रहती हैं, जैसे 'रूपक' वस्तुतः अभेद, अर्थों का समास या घनीभाव, परस्परान्वय आदि कई क्रियाओं से निष्पन्न होता है। निबन्ध की सीमा के कारण प्रत्येक 'अलंकार' का विश्लेषण यहाँ सम्भव नहीं, परन्तु यह विश्लेषण करने योग्य है। वस्तुतः सच्चा 'अलंकार' इन्हीं मानसिक क्रियाओं से रूप-लाभ करता है। सच्चे अलंकार में निम्नलिखित लक्षण होने चाहिए:—

क. वह प्रतिभा की रसावगाहिनी क्रिया की उपज हो।

ख. वह सहज होना चाहिए। कृत्रिमता 'सच्चे' अलंकार का शत्रु है। आडम्बर अलंकार का विष है।

ग. सच्चा अलंकार अनुभूति से उत्पन्न होता है, और, उसी के अधीन रहता है। अनुभूति की एकता अलंकारों को भी एक ही व्यवस्था में ग्रथित कर देती है। जैसे, विषाद का वर्णन इसी को पुष्ट व व्यक्त करने वाले अलंकारों से सम्पन्न होता है। किसी काव्य में प्रयुक्त अलंकारों का अध्ययन कीजिये। ये अनुभूति के अनुरूप व समान भावना से प्रेरित होंगे।

घ. अलंकार अलंकार्य से पृथक् नहीं किया जा सकता। अलंकार अभिव्यक्ति का साधन है। अतएव कवि को अर्थाभिव्यक्ति के लिए एक, और, उस अभिव्यक्ति को सज्जित करने के लिए दूसरा प्रयत्न करना नहीं होता। अलंकार अभिव्यक्ति के साथ उत्पन्न होता है।

ङ. अलंकार से चमत्कृति, चर्वणा, कल्पना, आस्वादन, आदि क्रियाओं का समुत्थान होता है। रस का आवरक अलंकार नहीं होता, उसका उद्घाटक अवश्य होता है।

संक्षेप में, यदि हम अलंकरण की क्रिया को रसावगाहन के अर्थ में स्वीकार करें, सज्जा के अर्थ में नहीं, तो हम मानेंगे कि यह 'सृजन' क्रिया का

अभिन्न अंग और साधन है। यह काव्य-सृजन का सरल, सहज, सत्य एवं समर्थ मार्ग है। इसी के कारण काव्य स्वयं जीवन की सरलतम और मधुरतम अभिव्यक्ति है। कभी-कभी तो काव्यात्मक अभिव्यक्ति सत्य का उद्घाटन करने के लिये न केवल सर्वश्रेष्ठ मार्ग होता है, अपितु यही केवल, एक मात्र, मार्ग होता है। काव्य के इस महत्त्व का आधार यही है कि वह स्वयं चेतना के अवगाहन करने वाली सहज क्रियाओं पर आश्रित होता है।

रसवाद की संकीर्णता

हम इतना ही नहीं कहना चाहते कि रसवाद ने केवल आठ, नौ या दस ही रस क्यों गिनाये, अधिक क्यों नहीं, प्रत्युत यह कि रसों का संख्यान अकलय है।

निम्नलिखित तथ्य संकीर्ण रसवाद के विरोधी हैं:—

(१) रसों की गणना का आधार स्थायी भाव हैं : जितने स्थायी भाव उतने ही रस। स्थायी भाव मन की किसी 'अव्यक्त' स्थिति का नाम है जो व्यवहार के लिये परिस्थितियों के वश उद्वेग एवं उत्तेजना के रूप में तथा रसास्वादन के लिये विभावों के द्वारा रस के रूप में 'व्यक्त' होते हैं। स्थायी भाव के उद्रेक और उत्थान का नाम ही 'रस' है। इस उद्रेक के कारण साधारण से भिन्न अर्थात् विभाव आदि होते हैं, और, मन की भी अवस्था इस समय असाधारण अर्थात् रस-प्रवण होती है। मनोविज्ञान के धरातल पर रस की इससे अधिक संगत मीमांसा सम्भव नहीं। किन्तु प्रष्टव्य यहाँ यह है कि 'अव्यक्त' की अभिव्यक्ति का यह प्रकार क्या इतना ही 'सरल' है जितना इस विवेचन में इसे स्वीकार किया गया है? रस-शास्त्र का भारतीय इतिहास साक्षी है कि यह भरत का विवेचन सहज, संगत दीख पड़ने पर भी 'अत्यंत' सरल माना गया, और, रस के स्वरूप को स्फीत एवं स्पष्ट बनाने के लिए मीमांसकों ने गुण, अलंकार, रीति, ध्वनि आदि को काव्यांग के रूप में ग्रहण किया। रसवाद का यह ऐतिहासिक विरोध सिद्ध करता है कि रसास्वादन की सम्पूर्ण क्रिया में स्थायी भाव के उद्रेक के अतिरिक्त अन्य अनेक तत्त्व रहते हैं जो 'चर्वणा' और 'चमत्कार' के आधार होते हैं। वस्तुतः 'चमत्कृति' ही रसना का सार है : रसे सारश्चमत्कारः; और चमत्कृति

का मूल 'चर्वणा' है। 'चर्वणा' रसिक के मन, बुद्धि, शरीर आदि अनेक धरातलों पर जगने वाली, पुनः-पुनः आत्मा के अन्तः-प्रदेशों में विसरण करने वाली क्रिया है। इस प्रकार रसास्वादन में स्थायी भाव का उद्रेक एक साधारण तत्त्व माना जा सकता है। सभी अवस्थाओं में कोई न कोई भाव विद्यमान रहता ही है। उसके आधार पर रसों को गणना करना बहुत उपयुक्त प्रतीत नहीं होता।

(२) किसी भी समय सौन्दर्य की अनुभूति के अवसर पर कोई एक ही स्थायी भाव जगता हो, यह सम्भव नहीं। स्थायी भाव की जाग्रति भावना (Emotion) है। पश्चिम में म्यकडूगल आदि मनोवेत्ताओं ने भावना का सम्बन्ध जीवन की सहज प्रवृत्तियों (instincts) से जोड़ा है जो भरत की स्थायी भावों के उद्रेक-कल्पना से मिलता है। इस वाद पर पहला आक्षेप तो यह है कि इस प्रकार की कोई शुद्ध सहज प्रवृत्ति जिसे 'काम' आदि कहा जा सके सम्भव नहीं है। 'काम' को ही लीजिए। इसमें केवल स्त्री-पुरुष का परस्पर रागात्मक आकर्षण ही सम्मिलित नहीं है, अपितु एक दूसरे के स्वरूप को अवगत करने के लिये 'जिज्ञासा', सन्तान की इच्छा, रूप व आकृति, प्रसाधन व सज्जा आदि के प्रति संवेदनशीलता, साथ रहने की कामना, आदि अनेक भाव भी रहते हैं जिनके बिना मानव-स्तर पर 'काम' का स्वरूप-निरूपण असम्भव होगा। यदि किसी भी एक सहज प्रवृत्ति में कई भाव रहते हैं, यदि मन में कोई एक भाव एकाकी या पृथक् नहीं रह सकता तो इनके आधार पर रसानुभूति का विभाजन उचित नहीं होगा। इसके साथ दूसरा आक्षेप यह भी है कि भावना (Emotion) जो सहज भाव की उद्भिक्त अवस्था मानी गयी है कोई एकाकी अनुभूति नहीं है, और, न सहज भाव और भावना में अव्यभिचारी, नियत, कारण-कार्य सम्बन्ध ही है। तब स्थायी भाव से रस-निष्पत्ति मानना और उसके आधार पर रसानुभूति की संख्या बताना उचित नहीं माना जा सकता।

(३) 'अखिल बुद्धि समास्वाद्यं काव्यम्' यह अभिनवगुप्त का आस्वा-दन विषयक सूत्र है। इसका अर्थ है कि काव्य का आस्वादन रसिक अपने

व्यक्तित्व के एकदेश से नहीं कर सकता। आस्वादन मानसिक जगत् की एक घटना है, जो 'स्रोत' के फूटने के समान या 'विस्फोट' के समान मानी गया है। इस रस-स्रोत में कितनी ही धाराएँ आकर मिलती हैं। एक ही नहीं, अनेक भावों का उद्रेक रसास्वादन के क्षण में होता है। रस का पुष्ट रूप तो बुद्धि में भावों की प्रखर जाग्रति से प्राप्त होता है। व्यक्तित्व के सभी तलों और पार्श्वों में नवीन आभाओं के जागरण से जो चमत्कार का संचार होता है, उसे केवल स्थायी भाव का उद्रेक कह देना मानो अखिल और अखण्ड प्रकाश पर आवरण डाल देना है।

(४) रस का स्वरूप ही पंडितराज के अनुसार 'चिदावरणभंग' है, जिसका तात्पर्य है कि रस का आस्वादन व्यक्तित्व के उस धरातल पर नहीं होता जहाँ स्थायी भाव या भावों का उद्रेक होता है। रसिक का चेतन आत्मा जो जगत् के बन्धनों से परे है, मन, प्राण, यहाँ तक कि बुद्धि और अहम्भाव के आवरणों से आच्छन्न हो जाता है। ये आवरण जीवन में पीड़ा एवं उत्तेजना के मूल हैं, और, यह पीड़ा केवल दुःख, विफलता या नैराश्य में ही नहीं रहती; वह सुख, सफलता व तृप्ति या पूर्ति में भी रहती है। रसास्वादन मानो रसिक को इन आवरणों से मुक्त कर के अपने स्वच्छन्द, आनन्दमय रूप में विचरने का अवकाश और अवसर प्रदान करता है। स्थायी भाव का उद्रेक चाहे वह केवल विभावों के संसार में ही हुआ हो रसास्वादन के स्वच्छन्द विहार को अवश्य ही संकुचित करेगा। 'काम' का विभावों द्वारा रूपान्तरित शृंगार रूप भी रस के अनुभव का संकोच करेगा। सम्भवतः भावों के 'स्थायित्व' से छुटकारा पाना रसास्वादन के लिए आवश्यक है। भावों का उद्रेक, थोड़ा या अधिक, उत्तेजना उत्पन्न करेगा; राग एवं बन्धन साथ चलते हैं। अतएव रसास्वादन में इस उद्रेक का थोड़ा अंश हो सकता है। अधिक होने से तो शृङ्गार भी स्वयं 'काम' हो जायगा और 'रस' के स्थान पर उत्पीड़न ही पैदा करेगा। 'चिदावरण का भंग' रस का सार है। इसमें स्थायी भावों का उद्रेक किंचिन्मात्र सहायक होने के कारण ग्राह्य हो सकता है, किन्तु रस-निरूपण का आधार नहीं बन सकता।

(५) 'अभिव्यंग्य' की अपेक्षा 'अभिव्यक्ति' और इसके प्रकार के ऊपर बल देने वाले मत जैसे ध्वनि, वक्रोक्ति, काव्यानुमिति आदि 'रस' को केवल एक अभिव्यंग्य पदार्थ मानते हैं। वास्तव में काव्य में आनन्द का सार व्यंजना की रीति ही है। यदि भरत के द्वारा प्रतिपादित रसों की व्यंजना उचित रीति से नहीं होती, तो वे विरस हो जायेंगे। रस का साक्षात् वर्णन तो उद्वमन की भाँति हेय है। इस स्थिति में किस रस का वर्णन हो, और रस कितने प्रकार के हो सकते हैं, इन प्रश्नों की अपेक्षा महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि काव्य में अभिव्यक्ति कैसी है। रसों की गणना मानो आम खाने के स्थान पर पेड़ गिनना है। 'रस' एक गौण स्थिति है, प्रधान नहीं।

(२)

रसवाद के विरोध में उपर्युक्त कथन शास्त्र-दृष्टि से प्रस्तुत किये गये हैं : कंटकेनैव कंटकम्। किन्तु कला-मीमांसा के नवीन वाद एवं दृष्टिकोण इतने व्यापक और विस्तृत हो गये हैं कि वे रसवाद की संकुचित सीमा के अन्दर नहीं समा सकते। जीवन के साथ कला का भी विस्तार हुआ है। आज का साहित्य राजा-रानी के जीवन की रंगरेलियों का, उनके विरह, विषाद, विजय, उल्लास, प्रेमोन्माद आदि का वर्णन नहीं कर सकता। न सुनने वाले ही आज 'रस' के भाँति-भाँति के प्रदर्शनों में रुचि रखते हैं। जीवन में नये मूल्यों, भावों और वेदनाओं का आविर्भाव हो रहा है। धर्म से भी व्यापक और पवित्र, नैतिकता से भी अधिक निर्मल और स्वच्छ, मानवता, विश्व-बन्धुत्व आदि के आदर्शों की प्रातः-कालीन आभा का उदय हो रहा है। माना कि अभी रूढ़ियों की जड़ता दूर नहीं हुई, माना कि अभी उजाले की अपेक्षा अन्धेरा अधिक है, दिशा स्पष्ट नहीं, मन में धैर्य एवं स्थैर्य नहीं, पद-गति डगमगाती है, 'वर्तमान' को निगाह भर कर देखने का साहस नहीं, 'भविष्य' में श्रद्धा जमी नहीं, 'नूतन' में आस्था का अभाव है : यह सब कुछ है, किन्तु यही तो आज काव्य और कला का केन्द्र है। इसी 'अनिश्चित', 'अनियंत्रित' भावना को व्यक्त करने के लिये इनका प्रयत्न हो रहा है। कला में नवीन रूपों के आविष्कार के लिये तथा उन रूपों में कलानुरूप नूतन भावों

को भरने के लिये, नवीन युग के प्रारम्भ का यह प्रातःकालीन रहस्य-सा धूमिल प्रकाश बहुत ही उपयुक्त अवसर है। आज भरत के 'रसों' का कला का युगानुरूप उद्देश्य आस्वादन नहीं हो सकता, और, न रसों की अभिव्यक्ति कला-कृति की सफलता का मापदण्ड। जीवन का अमेय विस्तार, और, इसके गम्भीर धरातलों एवं पार्श्वों का उद्घाटन आज 'रस' की गणना से संकुचित नहीं किया जा सकता।

इसके अतिरिक्त, कला-मीमांसा का अपना दृष्टिकोण भी नवीन परिस्थिति और जीवन के विस्तार के कारण स्वभावतः बदल गया है। माना कि रसवाद अपने युग की क्रान्तिकारी खोज थी; युगों तक इसका प्रभाव भी रहा, और, इसमें 'सनातन' तत्त्व यह है कि जब तक मनुष्य भावों और भावनाओं से प्रेरित होता रहेगा तब तक कला-कृतियों में ही नहीं, सभी अभिव्यक्तियों में, उसके आनन्द की उदात्त अनुभूति का मूल भी वे रहेंगे। परन्तु इतिहास की गति पुरातन को आत्मसात् करती हुई भी उसका बन्धन स्वीकार नहीं करती। अतएव रसवाद का संकीर्ण होना उसका दोष नहीं, सीमा अवश्य है, और, है स्वाभाविक सीमा।

कला में आस्वादन की वस्तु अनुभूति की अभिव्यक्ति है। कला की परिभाषा ही 'सच्ची बात को सीधे प्रकार से कहना' है। सच्ची बात कलाकार की सच्ची अनुभूति का नाम है। सच्ची अनुभूति 'जीवन के साक्षात्कार' से जगती है। जीवन के ऊपर बाहर से व्यक्तित्व का परिस्थिति-जन्य, आकस्मिक भार लदा रहता है, जिसमें उत्तेजना और उत्पीड़न रहते हैं, किन्तु इसी से ज्ञान एवं व्यवहार का सम्पादन होता है। यह व्यक्तित्व आवश्यकतया जटिल जाल होता है जिसके नीचे जीवन का सरल, अविरल एवं सनातन प्रवाह उच्छ्वास भरता है। जीवन गम्भीर और व्यापक, तरल और प्राणवान, पदार्थ है। मनुष्य की व्यक्त अनुभूति उसी जीवन-प्रवाह की प्रथम स्फूर्ति है, कला उसी की द्वितीय स्फूर्ति। इसीलिए कला में जीवन का निकटतम स्पर्श, स्पष्टतम झलक, तीव्रतम स्पन्दन, मधुरतम स्फुरण मिलता है। काम, क्रोध, राग, द्वेष आदि भाव उसी जीवन के तल पर उठती हुई

तरल तरंगें हैं। तरंगों के द्वारा समुद्र नहीं नापा जा सकता, और, तरंगों की गिनती भी कैसे हो? यदि हम काम आदि को तल की तरंगें न मान कर जीवन-प्रवाह ही साक्षात् मान लें तो भी इसमें इन भावों का व्यक्त विभाजन सम्भव प्रतीत नहीं होता। माना कि 'काम' ही साक्षात् जीवन है; काम की दीप्ति से ही जीवन दीप्त है, उसी के ओज से गतिमान् है। एक दृष्टि से जीवन 'काम' है; किन्तु इस दशा में 'काम' का अर्थ स्त्री-पुरुष का रागात्मक आकर्षण नहीं रह सकता। यह सम्भव है कि यह रागात्मक आकर्षण उस 'काम' का एक अभिव्यक्त रूप हो; किन्तु साथ ही यह मानना होगा कि 'काम' कला में अनेक रूपों में व्यक्त हो सकता है। वर्तमान चरम मनोविज्ञान (Meta-Psychology) की फ्रॉयड वाली शाखा 'काम' (Libido) को ही एक जीवन-तत्त्व स्वीकार करती है जिसकी अभिव्यक्तियाँ न केवल कला में मिलती हैं, अपितु धर्म, विज्ञान, नीति, सामाजिक व्यवस्था, यहाँ तक कि दैनिक व्यवहार और आदान-प्रदान तथा भाषा में भी, उसी तत्त्व के नाना रूप प्रकट होते हैं। भारत में भी 'शृंगारैकरसः' के नाम से एक वाद उठा। यूरोप में भी केवल एक-एक भाव को सब अभिव्यक्तियों का आधार मानने वाले अनेक वाद उठे, और, हैं। जैसे, केवल उत्साह (self-assertion), जीवन का संकल्प (will-to-live), या, 'होने' का संकल्प (will-to-be) या, इसके विपरीत, 'न होने की कामना' (will-to-die) या, आस्था की प्रवृत्ति (will to believe) या, सौन्दर्य की अभिलाषा (will-to-beauty) और, जीवन-धारा (Etan Vital) आदि को लेकर केवल एक-एक भाव के ऊपर कलानुभूति का ही नहीं, सभी अनुभूतियों का आधार बनाया है। अनेक 'रसों' को एक में परिणत करने की प्रथा जितनी पुरानी है उतनी नयी भी। जैसे, ऊपर के वादों में, केवल 'ओज', 'नैराश्य', 'श्रद्धा', 'करुणा', 'उन्मुक्तता' आदि को ही कला का एक शुद्ध 'रस' माना गया है। 'एको रसः करुण एव' यह भवभूति का उद्धोष 'उत्तर रामचरित' में से सुनाई पड़ता है। सारांश यह है कि जीवन को हम चाहे जिस रूप में देखें एक और अविभक्त

तत्त्व है। आठ, नौ या दस स्थायी भावों के द्वारा उस अविभाज्य तत्त्व का विभाजन कृत्रिम होगा।

(३)

रसवाद के प्रवर्तक नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय में दो स्थलों पर ऐसे संकेत हैं जिनसे पता चलता है कि भरत स्वयं रस-गणना को अन्तिम सिद्धान्त नहीं मानते थे। किन्तु इसे इतिहास की विडम्बना ही कह सकते हैं कि इन संकेतों पर ध्यान न जाकर मीमांसकों का सारा प्रयत्न पृथक्-पृथक् रसों के निर्वचन में लग गया। नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय में ३४ वें श्लोक के नीचे का गद्यांश देखिये। “अत्राह किं रसेभ्यो भावानामभिनिर्वृत्ति रताहो भावेभ्यो रसानामिति। उच्यते केषांचिन्मतं परस्परसम्बन्धादेषामभिनिष्पत्तिरिति। तन्न। कस्मात्। दृश्यते ही भावेभ्यो रसानामभिनिर्वृत्ति नं तु रसेभ्यो भावानामभिनिर्वृत्तिरिति।” इसका तात्पर्य है कि क्या हम रस से भावों की उत्पत्ति मानें या भाव से रसों की, अथवा, दोनों के परस्पर सम्बन्ध से? भरत के अनुसार, भावों से ही रसों की अभिनिर्वृत्ति देखी जाती है, न कि रसों से भावों की। अतएव भावों से रसों की निष्पत्ति मान लेनी चाहिए। यहाँ देखने योग्य बात यह है कि भरत अपने मत अर्थात् भावों से रस-निष्पत्ति को, ‘दृश्यते’ इस कथन के अनुसार अनुभव के आधार पर, बिना दूसरे मत का पर्यालोचन किये ही, स्यात् पक्षपातवश, सिद्ध स्वीकार किये हुए हैं। परन्तु दूसरा पक्ष एकदम निराधार नहीं है। स्थायी भाव एक अव्यक्त तत्त्व है जिसकी सत्ता का अनुमान रसोद्रेक से किया जाता है, जैसे दीपक के प्रकाश के विकिरण से हम अनुमान कर सकते हैं कि वहाँ पहले अन्धेरा रहा होगा। रसानुभूति के स्फुरण से पूर्व वहाँ ‘स्थायी भाव’ रहा होगा जिसका विभावों द्वारा ‘समुत्थान’ किया गया। इसमें व्यर्थ ही कल्पना का गौरव होता है। हम मान सकते हैं कि सौन्दर्य (विभावों की सृष्टि) के प्रभाव से मन, बुद्धि, चित्त आदि में चर्वणा का संचार होता है। यह प्रभाव हमारे साधारण, व्यवहार में प्रयुक्त, व्यक्तित्व के बन्धनों को शिथिल करके उसे आत्म-चेतना के आलोक से आप्लावित कर देता है।

यह रसिक में 'रस' की स्फूर्ति का क्षण है : इस स्थिति में रसिक की अखिल एवं अखण्ड सत्ता रसमयी हो जाती है, तब मन आदि जीवन के सभी तलों पर रसीले भाव जगते हैं; कल्पना उड़ान भरती है और नवीन क्षितिजों का विस्फोट होता है। रसिक जब सौन्दर्य-प्रभाव से द्रवित होकर स्वयं 'रस' हो जाता है तब उसमें प्रेम, राग, हर्ष, उल्लास आदि के नूतन भाव रसमयी तरंगों की नाई उठने लगते हैं, यहाँ तक कि कला के द्वारा प्रस्तुत दुःख, विषाद, विरह आदि के साधारणतया कष्टप्रद भाव भी रससिक्त हो जाते हैं। हम यह भी मानने को तैयार हैं कि इस अवस्था में कुछ रासायनिक क्रियाएँ रसिक के अन्तर में संचरित होती हैं जो अरस, अरूप, विरूप आदि तत्त्वों को भी रस में परिणत कर देती हैं। अतएव रसों से रसानुभूति के उपयुक्त भावों का समुत्थान मानना अनुचित न होगा। कुछ भी हो, यह विषय विचार के योग्य है। तब तो भावों के आधार पर रसों की गणना मानो किरणों के द्वारा उनके स्रोत को गिनने के समान होगा।

छठे अध्याय के अन्तिम भाग में ८३ तथा ८४ श्लोकों के बीच में कुछ गद्यांश और आर्या हैं जिनमें शान्त रस का प्रतिपादन किया गया है। नाट्य शास्त्र की सभी प्रतियों में यह अवतरण नहीं मिलता। अतः सम्भव है कि इसे लोगों ने पीछे से जोड़ दिया हो, और, सम्भव है कि ये वाक्य भरत के ही हों। दोनों प्रकार से यह स्पष्ट है कि रसवाद अर्थात् काव्य में केवल आठ रसों के प्रतिपादन में संकीर्णता को देख कर ही शान्त रस को लाया गया है; क्योंकि शान्त रस को रसों में से निकाल देने पर सम्पूर्ण धार्मिक साहित्य और कला का रस-मीमांसा के आधार पर निर्वचन असम्भव हो जायगा। आधुनिक रसवादी श्री रामचन्द्र जी शुक्ल तुलसी काव्य का पर्यालोचन भरत के आठ रसों के सिद्धान्त पर, बिना शम को स्वीकार किये हुए, कैसे कर सकते हैं, समझ में नहीं आ सकता। इसी प्रकार सूर-साहित्य को हृदयंगम करने के लिए वात्सल्य रस के आविष्कार की आवश्यकता हुई। सम्भव है कि रस के समर्थक आधुनिक कला की प्रवृत्तियों को समेटने के लिये नये रसों का आविष्कार करें। जब तक यह

नहीं होता तब तक समुचित यह होगा कि हम रसवाद की गणना को अस्वीकार करें।

परन्तु रसों की संख्या-वृद्धि से प्रश्न का समाधान न हो सकेगा। हमें रस को एक और अद्वितीय मानना चाहिए जिसमें सभी भावों एवं भावनाओं का, बुद्धि की चेष्टाओं, आध्यात्मिक, मानसिक तथा जीवन की सम्पूर्ण क्रियाओं का ऐसा सुघट विमिश्रण और विपाक हो कि आनन्द की अद्भुत अनुभूति का परम लाभ प्राप्त हो जाये। रस की इस एकता की ओर नाट्य-शास्त्र में उसी स्थल पर संकेत है—

भावा विकारा रत्याद्याः शान्तस्तु प्रकृतिर्मतः।

विकारः प्रकृतेर्जातः पुनस्तत्रैव लीयते ॥

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावः प्रवर्त्तते।

पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते ॥

अर्थात् रत्यादि भाव (शृङ्गार आदि के आधार) विकार हैं, किन्तु शान्त इनकी प्रकृति है। विकार (परिणति) प्रकृति से उत्पन्न होता है, फिर वहीं लीन हो जाता है। कोई भी भाव अपने-अपने अनुरूप निमित्त पाकर 'शान्त' से प्रवृत्त होता है, और फिर निमित्त का अपाय होने पर शान्त में ही विलीन हो जाता है। इसका तात्पर्य है कि शम या शान्ति ही रसों का रस है। इसका अर्थ उपराम या (Quietism) न समझना चाहिए, प्रत्युत मन की यह वह अवस्था है जब हमारे साधारण व्यवहार के सुख-दुःख, आशा-निराशा, सफलता-विफलता आदि रस में पक कर चमत्कृति और परम आह्लाद के जनक हो जाते हैं। शान्त रस की अनुभूति को उत्पन्न करना भारतीय साहित्य एवं कला का न केवल प्रयोजन रहा है, यह इसमें बल, ओज का आधार और स्रोत भी है। केवल उत्तेजना व उत्ताप को बढ़ाना, अतृप्ति एवं अशान्ति के भाव जीवन में लाना मदिरा के द्वारा जीवन के समुत्थान के समान होगा। यदि कला का उद्देश्य 'मदिरापान' कराना नहीं, 'अमृत' प्रदान करना है—दोनों ही उद्देश्य देखने को लभ्य हैं—तो शान्त रस ही कला-नुभूति का सार मानना चाहिए जिसमें सुख-दुःख दोनों ही रसरूप हो सकते हैं।

आधुनिक युग में तो विज्ञान भी सत्ता के ऐक्य की संकल्पना प्रस्तुत कर रहा है। जीवन सदा एक माना गया है। जीवन रसों का अक्षय स्रोत है, वह गम्भीर एवं व्यापक है; उसमें स्फूर्ति, दीप्ति और माधुर्य रहते हैं। वह अनन्त अनुभूतियों का जनक है, असंख्य भावों की खनि है। उसमें अखिल काल समाया हुआ है : सारा अतीत, वर्तमान और अनागत। उसमें स्पन्दन, गति और विकास होता है। जीवन विराट् का रूप है; चेतना का उदय वहीं से होता है, किन्तु वह चेतना या अनुभूति से मर्यादित नहीं किया जा सकता। संक्षेप में, जीवन को यथावत् हमें स्वीकार करना चाहिए, और, कला से इसके सम्बन्ध को भी स्वीकार करना चाहिए। ऐसा करते ही, ज्यों ही कला के क्षेत्र का विस्तार बढ़ता है, उसमें गाम्भीर्य का उदय होता है, रस की संकुचित परिभाषा हमें अमान्य हो जाती है। या, यों कहिये, ज्यों ही कला के स्वरूप, उद्देश्य, क्षेत्र और गौरव की वृद्धि होती है, परम्परारुढ़ रसवाद की संकीर्णता स्पष्ट होने लगती है।

भारतीय रस-मीमांसा और स्थायी भाव

भरत की रस-मीमांसा का आधार स्थायी भावों की संकल्पना है। यहाँ हमें पूछना है कि वर्तमान ज्ञान-समृद्धि के होते हुए हम इस संकल्पना को स्वीकार करें या न करें; यदि करें तो किस रूप में ?

भरत का रस-सूत्र है : तत्र विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद्रस निष्पत्तिः, अर्थात् विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। भरत के पश्चात् आने वाले आचार्यों ने अपने-अपने दार्शनिक दृष्टिकोणों के सहारे 'रस-निष्पत्ति' की अनेक निरुक्तियाँ कीं जिससे 'व्यक्ति', 'अनुमिति', 'उत्पत्ति', आदि के सिद्धान्त संस्कृत के अलंकार शास्त्र में प्रचलित हुए। परन्तु आचार्य भरत की व्याख्या बहुत सरल और स्वाभाविक है। वे कहते हैं : यथा हि नाना व्यञ्जनौषधिद्रव्य संयोगाद्रस-निष्पत्तिर्भवति, यथा हि गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनैरौषधिभिश्च षाडवादयो रसा निवर्तन्ते, तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति।

अर्थात्, जिस प्रकार अनेक द्रव्य, गुड़, लवण, मिर्च, खटाई आदि के संयोग से भोजन में 'रस' (स्वाद) उत्पन्न होता है उसी प्रकार विभावादि के संयोग से काव्य-रस का उदय होता है। अन्न में स्वयं रस कम रहता है जब तक उस पर मसाले तथा दूसरे व्यञ्जनों का पुट न चढ़ाया जाय। लेकिन केवल 'मसालों' में भी रस नहीं होता। भरत की वाणी सुनिःस्पृहः यथा हि नानाव्यञ्जन संस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसान् आस्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तथा नानाभावाभिनय व्यञ्जितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः।

अर्थात् जिस प्रकार अनेकविध व्यंजनों से अन्न का संस्कार करके 'रस' उत्पन्न किया जाता है, उसी प्रकार नाना भावों के अभिनय से सहृदय प्रेक्षक स्थायी भावों का आस्वादन करते हैं। संक्षेप में, प्रेक्षक अपने ही अन्तर्गत स्थायी भावों का रस लेते हैं। स्थायी भाव को 'रस' के रूप में परिणमित करने के लिए किसी दर्शन या जटिल रासायनिक विधि की आवश्यकता नहीं। केवल साधारण अनुभव-सिद्ध, अन्न को व्यंजनों के संयोग से रसीला बनाने की विधि स्थायी भाव को रसनीय बनाने की विधि है।

भरत के इस निर्वचन में अनेक दोष हैं। प्रस्तुत निबन्ध का मन्तव्य इन दोषों की आलोचना नहीं है। हम केवल यहाँ इतना ही पूछना चाहते हैं कि 'स्थायी भाव' की वास्तविक सत्ता और स्वरूप क्या है? रस के निर्वचन के लिये यह संकल्पना कहाँ तक न्याय्य है? विज्ञान इसे कहाँ तक स्वीकार करने को तैयार है?

स्थायी भाव को स्वीकार करने का विशेष औचित्य यह है कि हम किसी भी तत्त्व को केवल अपनी ही 'अनुभूति' के आश्रय से हृदयंगम कर सकते हैं। जो हमारी 'अनुभूति' से बाहर है, उसका स्वरूप हमारी अवगति के बाहर होगा। उपनिषद्कारों ने आत्मानुभूति, सोऽहम्, अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि आदि वाक्यों का अर्थ समझाने के लिए हमारी साधारण अनुभूतियों का सहारा लिया है। उदाहरणार्थ : ब्रह्मात्मैक्य (ब्रह्म और आत्मा की एकता) को अवगत कराने के लिए अपनी प्रिया स्त्री के सम्पृक्त होने पर पुरुष के साधारण अनुभव की चर्चा की है। इसी प्रकार रंगमंच पर अभिनय देखने से प्रेक्षक के हृदय में जिस 'रस' का संचार होता है, अथवा पाठक के हृदय में काव्य के पढ़ने पर, वह 'रस' प्रेक्षक की अनुभूति, और वह भी साधारण अनुभूति, से दूर, बाह्य, असम्बद्ध और अज्ञात नहीं हो सकता। रसानुभूति का आश्रय मानव-प्रकृति का कोई स्थायी भाव अवश्य होगा। ये स्थायी भाव मनुष्य के रति, क्रोध, भय आदि भरत ने अपनी मीमांसा में स्वीकार किये हैं।

यहाँ तक स्थायी भाव की संकल्पना न्याय्य प्रतीत होती है। किन्तु स्थायी भाव की वास्तविक सत्ता क्या है? 'रति' नाम की कोई 'वस्तु'

क्या हमारे अन्तर्जगत् की वस्तु है? क्या 'क्रोध', 'उत्साह', 'जुगुप्सा', 'शोक' आदि की भी कोई 'वास्तविक' और स्वतंत्र सत्ता है? भरत ने आठ स्थायी भाव गिनाये हैं: रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साही भयं तथा। जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्त्तिताः। क्या मनुष्य का मन आठ स्वतंत्र स्थायी भावों में विभक्त माना जा सकता है? उत्तर यह है कि आधुनिक मनोविज्ञान मन की यह रूप-रेखा स्वीकार नहीं करता!

मन एक है। वह अनवयवी है: वह अवयवों में विभक्त नहीं है। किसी विशेष परिस्थिति में मन सर्वात्मना प्रतिक्रिया करता है, सर्वात्मा से उसे ग्रहण करता है। मन 'वस्तु' नहीं है, प्रत्युत वह अनेक क्रिया और प्रवृत्तियों का चेतन संगठन है। इस संगठन का केन्द्र 'अहं' (Ego) है, विभिन्न परिस्थितियों के अनुकूल 'अहं' कभी हर्षित, कभी विषण्ण, कभी उत्तेजित, कभी शान्त, अनेक दशाओं में से गुजरता है। यह 'संगठन' जिसे 'अहं' कहा गया है शैशव काल से लेकर धीरे-धीरे बढ़ता है, दृढ़ और विस्तृत होता है। विशेष परिस्थितियों में यह टूट भी जाता है, जिससे अनेक मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं। रति, क्रोध आदि इसी मनः संगठन की प्रवृत्तियाँ हैं जो विशेष परिस्थितियों में जगती हैं। मनोविज्ञान अब इस स्थिति में भी पहुँच गया है कि वह इस संगठन की केवल एक ही प्रवृत्ति माने। कोई इसका स्वरूप केवल 'रति' (Libids), कोई केवल उत्साह (Self-assertion) अन्य केवल आत्म-शक्ति (Energy) आदि मानते हैं। क्रोध, भय आदि इसी मूल-प्रवृत्ति की सफलता के लिए आनुषंगिक प्रतिक्रिया मात्र हैं। मन की एकता (Unity of mind) का सिद्धान्त लगभग सर्वमान्य हो चला है। वह 'रत्यात्मक' या 'रति-स्वरूप' हैं या नहीं—यह विवादास्पद हो सकता है।

मन की एकता के साथ आठ स्थायी भावों की संकल्पना ठीक नहीं बैठती। मन ही रस का आधार है। कला और साहित्य द्वारा सृजित विशेष परिस्थितियों में मन ही रसनीय हो जाता है। वे विशेष परिस्थितियाँ क्या हैं, इसका हम उल्लेख यहाँ न करेंगे। इतना ही यहाँ पर्याप्त होगा कि आस्वादन के क्षण में मन कला द्वारा सृजित, 'सौन्दर्य' से सम्पर्क स्थापित

करता है, इन्द्रिय-कुल्याओं द्वारा 'सुन्दर' को सर्वात्मना आत्मसात् करता है, उसकी गति, अंग-विन्यास, आरोह-अवरोह, रंग-रूप आदि की समृद्धि तथा भाव-व्यञ्जना को भरने देता है। इस क्षण में, सौन्दर्य में तल्लीन होने के कारण व्यवहार स्थगित हो जाता है और तर्क की क्रियाएँ विरत हो जाती हैं। मन अपनी इस अवस्था में पहुँच कर स्वयं 'रस' बन जाता है। यदि मन ही स्वयं रस का आधार और स्रोत है, उपादान और निमित्त है तो आठ या अधिक स्थायी भाव एक गौण संकल्पना रह जाते हैं। एक मन के स्थान पर आठ मन मानना उचित नहीं है।

भरत स्वयं अपनी कल्पना से सहमत प्रतीत नहीं होते, क्योंकि उन्होंने आठ रसों को चार में परिवर्तित करने का प्रयत्न किया : तेषामुत्पत्ति हेतवश्चत्वारो रसाः। तद्यथा शृङ्गारो रौद्रो वीरो बीभत्स इति। उन्होंने शृङ्गार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत, बीभत्स से भयानक रसों को निकालना चाहा। अन्त में चल कर सारे रसों का समावेश 'शान्त' में किया। वस्तुतः उचित यह प्रतीत होता है कि हम स्थायी भावों पर आश्रित रसों को इतना विभक्त न स्वीकार करें, प्रत्युत रसों के आश्रयभूत 'मन' को ही कला की विशेष परिस्थितियों में रस का स्थायी उपादान मानें। इसे मानने से हम एक रस की अनुभूति में अनेक भावों और दूसरे तत्त्वों का समावेश समझ सकते हैं।

वस्तुतः रस की अनुभूति में अनेक तत्त्व रहते हैं, केवल भरत के गिनाये हुए स्थायी भाव, अनुभाव, संचारी आदि ही नहीं। ये तत्त्व कौन हैं और कहाँ से प्राप्त होते हैं? इस प्रश्न के उत्तर से भी हम 'स्थायिभावादरसः' इस सूत्र की संकुचित दृष्टि को समझ सकते हैं!

विज्ञान की भाषा में इन तत्त्वों और इनके स्रोतों को इस प्रकार समझा जा सकता है : विज्ञान 'विकास' को मान्यता देता है। विकास का नियम है कि 'सरल' अवस्था 'जटिल' की पूर्वावस्था है, किन्तु विकास के क्रम में 'आगे' या 'ऊपर' चल कर 'पीछे' या 'निचली' अवस्था का विलोप नहीं होता, प्रत्युत 'पूर्व', 'सरल' के ऊपर ही अधिक व्यवस्था, विस्तार आदि का आवि-

भावि होता है। जीव-सृष्टि में आज हम विकास के 'मानव' स्तर पर पहुँच रहे हैं, किन्तु 'मानव' में इस स्तर के पूर्व की सारी अवस्थाएँ विद्यमान हैं, और, मानव की पूर्ण अनुभूति में इन अवस्थाओं से लभ्य अनेक तत्त्व सम्मिलित रहते हैं। 'पशु' (Animal) में 'मानव' (Human) का उदय कब हुआ, कहना कठिन है; किन्तु 'मानव' में 'पशु' विद्यमान है, यह स्पष्ट है। 'पशु' से भी पूर्व 'जीव' (Life) की अवस्था थी। मनुष्य आज भी जीवधारी पशु है। 'जीव' से भी पूर्व 'अजीव' (Matter) था, यद्यपि जीव और अजीव का सन्धिकाल और अजीव से जीव का विकास विज्ञान के लिए अचिन्त्य हैं। किन्तु आज भी 'जीव' का आधार 'अजीव' है। संक्षेप में, मानव-सत्ता में अजीव, जीव, पशु और मानव अनेक तत्त्व सन्निहित हैं। इनमें प्रत्येक का क्या लक्षण है, हम यह न पूछेंगे। किन्तु मानव की अनुभूति में ये सभी तत्त्व रहते हैं। हम काल और स्थान के माध्यम में रहते हैं : यह अजीव का गुण है। हमारी कोई अनुभूति इस माध्यम से अछूती नहीं रह सकती। प्राण-संचार, रुधिर-प्रवाह आदि अनेक जीव की क्रियाएँ हैं। 'पशुता' का उदय रति, क्रोध आदि की प्रवृत्तियों के साथ हुआ, साथ ही ज्ञान-केन्द्रों का विकास। मानव, स्यात्, ज्ञान-केन्द्रों के अधिक सजग होने पर, मूल्यों की चेतना (Sense of value) जगने पर, साधन और साध्य में विवेक होने पर हुआ। विमर्श, विवेक भी मानव-स्तर पर जगे। किन्तु स्मरण रहे 'मानव' स्तर के उदय होने पर मनुष्य में पशुता, जैवी गुण या पार्थिवता का विलय नहीं, और भी अधिक विस्तार हुआ। चेतना के नूतन केन्द्र खुले, अनुभूति का विस्तार और स्फीति हुई। संक्षेप में, मानव-अनुभूति पूर्व-स्तरों में उदित हुए अनेक तत्त्वों के समावेश के कारण सभी की अपेक्षा समृद्ध होती है।

'रस' मानव-अनुभूति है, पूर्ण और पुष्ट। इसमें सुन्दर वस्तु के पार्थिव गुण (ध्वनि, वर्ण आदि) रहते हैं। जीवन की क्रियाएँ, जैसे श्वासोच्छ्वास, हृदय-गति, रक्त-संचार से जन्य स्वेद, अश्रु, रोमांच, कम्प आदि रहते हैं जिन्हें भरत ने 'अनुभाव' कहा है। आधुनिक विज्ञान और भी कई क्रियाएँ

(Vital process) मानता है। इसमें 'पशु' स्तर पर उदित होने वाली भाव-नात्मक प्रवृत्तियाँ (Emotional tendencies) भी रहती हैं, किन्तु रस-ग्रहण में केवल मानव-स्तर पर जगने वाली मन, बुद्धि और अहं आदि की क्रियाएँ भी रहती हैं जिनके बिना 'रूप' और 'व्यंजना' को हृदयंगम करना सम्भव नहीं। तात्पर्य यह है कि रस की अनुभूति में अनेक तत्त्व रहते हैं। अतएव केवल पशु की स्थायी प्रवृत्तियों को ही रस-बोध का आश्रय मानना उचित नहीं प्रतीत होता।

भरत ने यही किया है। भरत जिन स्थायी भावों को 'रसों' का उपादान मानते हैं वे मनुष्य में पशु-प्रवृत्तियाँ हैं। इनके उद्रेक से मन में उद्वेग, शरीर में उत्तेजनाएँ और क्रियाओं का उत्थान होता है। ये हमारे व्यावहारिक जीवन के संचालक (driver) हैं। रस में उद्वेग, उत्तेजना और क्रियाओं का अभाव रहता है। परिणामतः "स्थायी भावो रसः स्मृतः"। यह वाक्य रस की शुद्ध व्याख्या नहीं। न हम स्थायी भावों की तृप्ति ही कला की सृष्टियों से कर सकते हैं। न ये भाव मनुष्य में सौन्दर्य के सृजन और आस्वादन के लिए प्रेरणा ही देते हैं। हाँ, रस की अनुभूति में विद्यमान रहते हैं, क्योंकि, जैसा हम मानते हैं, प्रत्येक मानव-अनुभूति में सभी स्तरों के तत्त्व सन्निविष्ट होते हैं। वस्तुतः रसानुभूति का उपादान और आधार मनुष्य की रस-प्रवृत्ति है, न कि उसकी पशु-प्रवृत्ति या भरत का कोई स्थायी भाव। इसी रस-प्रवृत्ति से प्रेरित होकर वह कला के लोकों की सृष्टि करता है (जो व्यवहार की दृष्टि से नगण्य हैं) और उन लोकों में विचर कर अद्भुत निर्वृति का अनुभव करता है जो स्थायी भावों की तृप्ति से भिन्न है। यही रस-प्रवृत्ति (Aesthetic Impulse) रसास्वादन की आधार शिला है मनुष्य में, क्योंकि वह स्वयं 'रस' है : रसो वै सः।

काम और शृङ्गार रस

कला और साहित्य में शृङ्गार रस की प्रतिष्ठा के लिये यह आवश्यक है कि काम-प्रवृत्ति के साथ इसका सम्बन्ध और भेद स्पष्ट किया जाये। प्रस्तुत निबन्ध का यही गन्तव्य उद्देश्य है। प्रश्न दो हैं : १. जिस अनुभूति का नाम शृङ्गार रस है उसके क्या लक्षण हैं तथा काम-प्रवृत्ति का उद्रेक उस अनुभूति में कहाँ तक सम्मिलित रहता है? २. वे विधाएँ कौन सी हैं जिनके द्वारा कामोद्रेक का रूपान्तरण उसे शृङ्गार रस की अनुभूति में परिणत कर देता है? पहले प्रश्न को लीजिए।

(क) रस का पहला लक्षण उसकी प्रियता है। कला और साहित्य अपने शिल्प-कौशल और विधानों द्वारा अप्रिय, विरूप, कुत्सित, हास्यास्पद, भयावह, द्रावक आदि वस्तुओं को भी आस्वादन के योग्य 'रस' के रूप में प्रस्तुत करते हैं। रस में आकर्षण और प्रियता तथा अद्भुत आनन्द और सन्तोष उत्पन्न करने की क्षमता होती है, इसमें सन्देह नहीं। शृङ्गार रस 'प्रिय' ही नहीं, 'श्रेष्ठ' होता है, सहृदय रसिक के निकटतम, एकदम मधुर और मनोहर। शृङ्गार रस के इस माधुर्य और प्रियता का स्रोत क्या है? निश्चय ही, इसका एक और प्रमुख आधार शृङ्गार रस की अनुभूति में काम का उन्मेष है। किन्तु साथ ही इस तथ्य की सीमा यह है कि केवल काम का उन्मेष, अन्य कई उपादानों के बिना, रस की अनुभूति उत्पन्न करने के लिये सर्वथा असमर्थ है। यह सीमा स्पष्ट होनी चाहिए।

काम का साधारण उद्रेक मन और शरीर में उत्तेजनाएँ पैदा करता है, जो प्रवृत्ति की सफलता के लिये विज्ञान की दृष्टि से आवश्यक एवं उचित है। किन्तु आवश्यक एवं उचित होते हुए भी इससे उद्वेग और उत्ताप, क्रोध,

सम्मोह आदि की उत्पत्ति, बुद्धि में तम का संचार, अहंकार का विजृम्भण, चित्त का संकोच, शक्ति का क्षय आदि परिणाम होते हैं। हाँ, प्रवृत्ति की सफलता से अवश्य सन्तोष और आनन्द प्राप्त होता है, किन्तु इसे 'रस' मानना उचित न होगा। यह 'तृप्ति' है, क्षुधा की तृप्ति की भाँति। किन्तु साहित्य अपने शब्दार्थ साधन से अथवा कला चित्रण, मूर्ति-निर्माण आदि द्वारा रसिक के लिये 'काम' की तृप्ति उत्पन्न करने में असमर्थ है। शब्दार्थ के माध्यम में व्यक्त, रंग-रेखा-शिला आदि में उन्मीलित 'शकुन्तला' के अनुध्यायन से जिस मनुष्य को काम-तृप्ति होती है वह अवश्य ही अद्भुत होगा ! यह तृप्ति, साथ ही, भ्रामक होगी और केवल शरीर के स्तर पर इसे 'मानसिक व्यभिचार' मानना 'रसास्वादन' की अपेक्षा अधिक उचित होगा ! ऐसी स्थिति में प्रश्न यह है कि शृङ्गार के 'रसबोध' में कामोन्मेष का क्या स्थान होता है ? रंगमंच पर नृत्य करती हुई अथवा शब्द, रंग, शिला, रेखा आदि माध्यमों में सृजित नायिका के दर्शन से जो शृङ्गार रस का आविर्भाव माना जाता है, इसका क्या स्वरूप है ? संक्षेप में, क्या शृङ्गार रस में प्रियता, माधुर्य और आकर्षण का एकमात्र स्रोत केवल कामोन्मेष है अथवा अन्य भी ?

वस्तुतः प्रियता का मूल स्रोत 'आत्मा' है। उपनिषद् के आर्ष वचन जिनका आधार विशुद्ध अनुभूति है इस विषय में स्पष्ट हैं : पुत्र के लिये पुत्र प्रिय नहीं होते, 'अपने' लिये पुत्र प्रिय होते हैं। संसार की सभी वस्तुएँ आत्मा के लिये प्रिय होती हैं। 'आत्मा' से हमारा तात्पर्य अपने जीवन तथा व्यक्तित्व के उन चेतन और अचेतन, व्यक्त और अव्यक्त, समीप और दूर, भागों से है जिनसे चिनगारी की भाँति हमारी शतशः इच्छाएँ, संकल्प, विचार, आशा, ज्ञान आदि निकला करते हैं, जहाँ वे विलीन हो जाते हैं, पलते और पुष्ट होते हैं। यह 'आत्मा' रहस्य भी है और प्रकट भी। केवल प्रकट, परिचित और परिमित व्यक्तित्व तक ही आत्मा को सीमित कर देने से हम 'अपने' को ठीक नहीं समझ सकते। यद्यपि विज्ञान अपने विवेचन में उपनिषदों के आध्यात्मिक 'रहस्य' को स्वीकार नहीं कर सकता, न करना

ही चाहिए, तथापि 'अपने' अन्तर के 'गाम्भीर्य' को तथ्य की भाँति ग्रहण करने के लिये आज विज्ञान विवश भी है। केवल 'आत्मा' के विषय में ही नहीं, भौतिक स्तर पर भी आज विज्ञान की सीमाएँ अत्यन्त विस्फारित हो उठी हैं। अध्यात्म और विज्ञान दोनों के लिये 'आत्मा', 'स्व', 'चेतना' में गाम्भीर्य (depth) तथा 'रहस्य' को अङ्गीकार करना आज निषिद्ध नहीं है। रस-विवेचन के लिये यह आवश्यक है, क्योंकि यही आध्यात्मिक गाम्भीर्य रस में प्रियता का आधार है।

सुन्दर वस्तु अपने सौन्दर्य के प्रभाव से, लय, गति, आरोह-अवरोह, सन्तुलन, समविभाग, रूप-विन्यास आदि अपनी गुण-सम्पदा से, तथा साहित्य, विशेषतः, अपने शब्द और अर्थ के वैभव से, रसिक की आत्मा में चेतना की नूतन धाराओं को उन्मुक्त करते हैं। रस के अनुभव में चेतना की धाराओं का उन्मीलन और प्रवाह ही इसे इतना सम्पन्न, प्रबल और सरस बनाते हैं। शृङ्गार रस के अनुभव में सौन्दर्य की सम्पदा, इसका गुण-वैभव तथा प्रभाव इतना निखरते हैं जितना दूसरे रसों में सम्भव नहीं : 'हास्य' में तो 'विरूप' को ही कलात्मक रूप देने का यत्न किया जाता है। 'करुण' में वेदना की गहराई होती है, किन्तु माधुर्य नहीं। इसी प्रकार अन्य रसों में भी 'सुन्दर' की इतनी सुस्पष्ट अभिव्यञ्जना नहीं होती जितनी शृङ्गार रस में होती है। आलम्बन और उद्दीपन विभावों को देखिए : सर्वत्र रंग, रूप का समञ्जस विन्यास रहता है। सरोवर हैं तो स्वच्छ सलिल से झल-मलाते हुए; सलिल है तो नाना वर्ण के कमलों से विभासित; कमल हैं तो उन पर सौरभ से अन्धे मधुकरों का गुंजन इत्यादि। शृङ्गार रस की अभिव्यक्ति में सौन्दर्य अपने सम्पूर्ण अंगों और गुणों के साथ प्रकट होता है। यह इस रस की उत्कृष्टता का एक कारण है।

सौन्दर्य का प्रथम उन्मेष हमारे दैनिक व्यक्तित्व के बन्धनों को उन्मुक्त कर देता है। इससे हमारा 'स्व' अपने उन्मुक्त, सरल और रसमय अस्तित्व का अनुभव करता है। राग, नृत्य, अभिनय, चित्र, मूर्ति, भव्य भवन अथवा समुद्र, सरित्, गिरि, कानन, कान्तार आदि की अनुभूति में हमारे 'स्व' की

साधारण सीमाओं को खोल देने में स्वाभाविक क्षमता रहती है। इस उन्मुक्त अवस्था में, जीवन में गति, मन में स्फूर्ति, बुद्धि में आलोक, चित्त में विस्तार, अहम् का क्षणिक विलयन, प्राणों में लय, हृदय में विश्राम आदि का संचार होता है। आत्मा में इस प्रकार की नानाविध गतियों से रसानुभूति पुष्ट होती है तथा रसिक अपनी सत्ता के रसमय मूल के निकट पहुँच कर अद्भुत विराम और विश्राम का अनुभव करता है। शृङ्गार रस में सौन्दर्य की प्रकृष्ट अभिव्यक्ति इसकी प्रियता का प्रमुख स्रोत है।

शृङ्गार रस में काम का उन्मेष 'तृप्ति' के लिये भ्रामक है, किन्तु रस की प्रवृष्ट अनुभूति के लिये परम आवश्यक क्योंकि काम का उद्बोधन भी प्रखर, व्यापक और बन्धनों को ढीला कर देने वाला होता है। यदि हम कलात्मक प्रभाव से काम की सहज प्रवृत्ति और व्यापार को क्षणिक निरुद्ध करके उसे सौन्दर्य-बोध की ओर ले जा सकें तो इसकी शक्ति और स्वाभाविक प्रियता के कारण हम रसानुभूति को गम्भीर और मधुर बनाने में सफल हो सकते हैं। शृङ्गार रस की अनुभूति में यही होता है। उसमें 'काम' अपने सहज व्यापार से विरत होकर अपनी शक्ति का अखिल स्रोत 'सुन्दर' के अवगाहन की ओर मोड़ देता है, और, रसिक को 'जीवन' व चेतना के मूल तक ले जाता है। 'काम' स्वयं चेतना व जीवन के मूल पर स्थित है : वह जीवन की मौलिक भावना है। काम का उन्मेष जब जीवन का उद्घाटन और चेतना का उन्मेष करने लगता है तब साहित्य और कला में शृङ्गार रस अपनी चरम भूमि पर विराजमान होता है।

(ख) हमने माना है कि रस प्रिय होता है क्योंकि वह जीवन व चेतना को विमुक्त करके उन्हें समृद्ध बनाता है और उनके मूल-स्रोत का उद्घाटन करता है। काम जीवन की मौलिक वृत्ति है। साहित्य और कला में, काम अपने सहज 'व्यापार' से उपरत होकर 'रस' वृत्ति का ही पोषण करता है जिससे शृङ्गार रस की प्रियतम अनुभूति का संचार होता है। किन्तु 'रस प्रिय होता है', इतना कथन पर्याप्त नहीं, क्योंकि रस की अनुभूति में प्रियता के साथ-साथ रसिक की 'तटस्थता' भी आवश्यकीय है। वस्तुतः रसिक

प्रिय व सुन्दर वस्तु से 'तटस्थ' होकर ही उसके 'सौन्दर्य' का पूरा आस्वादन कर सकता है। यह उक्ति विचित्र प्रतीत होने पर भी सत्य है।

एक मनुष्य समुद्र तट पर खड़ा है। उसके सामने जल का विस्तार है जिसमें प्रबल लहरों का अविरल उत्थान-पतन हो रहा है। प्रभात की कांचन किरणें उन पर झिलमिलाती हैं। प्रेक्षक अपने समस्त 'स्व' को क्षणिक भूल कर इस अद्भुत छवि को निहारता है। अभी वह समुद्र तट पर है : वह प्रकृति की इस झांकी को 'तटस्थ' होकर हृदय में आने देता है, उसका आत्मा तरंगित हो रहा है, और, चेतना को नवोन्मेष से भर रहा है। अब कल्पना कीजिए कि समुद्र में एक बड़ी लहर उठी और उसकी ओर चली जिससे प्रेक्षक को जलमग्न हो जाने का भय हुआ। इस क्षण वह अपनी प्राण-रक्षा के लिये चेष्टा करेगा। समुद्र का सौन्दर्य उसके लिये विलीन हो जायगा। मानो वह भाग कर दूर एक दृढ़ चट्टान पर खड़ा हो गया जहाँ समुद्र नहीं पहुँचेगा। अब वहाँ खड़ा होकर फिर समुद्र की ओर देखता है : अब उसे भय नहीं है, किन्तु समुद्र का भयानक रूप उसे स्पष्ट दिखता है। वह कल्पना से 'भय' के रूप में समुद्र के सौन्दर्य का अवगाहन करता है। उसका स्वकीय 'भय' का अनुभव अब केवल स्मृतिमात्र रह गया है। वह कल्पना द्वारा उसका पुनः उन्मेष करता है। इस प्रकार 'निर्भय' होकर, भय से 'दूर' होकर 'भय' भी आस्वादन के योग्य हो जाता है। जिस प्रकार स्वयं भयग्रस्त होकर 'भयानक रस' का अनुभव सम्भव नहीं, उसी प्रकार पत्नी-विरह में विलाप करता हुआ मनुष्य अथवा पुत्र-वियोग से छटपटाता हुआ पिता करुण रस का आस्वादन नहीं करता। वही मनुष्य रामायण में 'दशरथ-विलाप' अथवा रघुवंश में 'अज-विलाप' का अध्ययन करके उस रस का उपभोग करता है। यदि परिस्थितिवश हमें किसी के साथ युद्ध करना पड़े तो दुःख ही होता है, वीररस का अनुभव होता ही नहीं। यदि कङ्काल, मज्जा, रुधिर आदि से गीली किसी श्मशान भूमि में जाने का दुर्भाग्य हमें प्राप्त हो तो हम अवश्य ही आँख-नाक बन्द कर वहाँ से भागेंगे, किन्तु श्मशान-वर्णन से हमें 'रस' (जिसे बीभत्स कहते हैं) का अनुभव होता है। संक्षेप में,

रस की अनुभूति में रसनीय वस्तु से 'दूर' होना आवश्यक है। कवि 'दूरतापादन' नाम की प्रक्रिया से ही साधारणतया अ-रसनीय वस्तुओं को भी रसनीय बनाने में सफल होते हैं। यदि किसी वस्तु से हमारे 'स्व' का स्वकीय सम्बन्ध हो जाये तो उसमें रसता नहीं रह सकती। 'स्वता' और 'रसता' एक साथ सम्भव नहीं। इसी स्थिति को हम रसानुभूति की तटस्थता या दूरता कहते हैं।

पश्चिमी चिन्तकों ने सौन्दर्य की अनुभूति को अ-वैयक्तिक (Impersonal) भावना कहा है, और, वस्तु के सौन्दर्यावगाहन के लिये उससे 'दूरी' को (aesthetic distance) कहा है। भारतीय चिन्तक इसे 'ताटस्थ्य' भावना कहते हैं। कोई पण्डित तो इसे 'मेरी है, मेरी नहीं है' (न मम, ममेति च) इस प्रकार की स्वयं-उद्भूत भ्रान्ति को रस का आधार मानते हैं। ब्रह्मवादी वेदान्त का तो सामान्य सिद्धान्त है कि मनुष्य जब तक 'संसार' को अपना समझ कर उसमें 'डूबा' रहता है, उसे भय, चिन्ता, संताप आदि घेरे रहते हैं। ज्यों ही पवित्र ज्ञान के द्वारा उसके नेत्र खुलते हैं और संसार के साथ उसका 'अहं-मम' का सम्बन्ध समाप्त हो जाता है त्योंही वह साक्षी रूप में तटस्थ होकर सत्ता को देखता है। उस क्षण वही सांसारिक सत्ता चिदानन्द और सुन्दर हो उठती है। जिस प्रकार समुद्र में डूबने वाला व्यक्ति समुद्र के सौन्दर्य को नहीं देख सकता, उसी प्रकार संसार के सुख-दुःख, हानि-लाभ आदि में निमग्न मनुष्य संसार के सौन्दर्य को नहीं समझ पाता। केवल साक्षी ही संसार के जीवन-मरण, जय-पराजय, हानि-लाभ, क्रन्दन-हास, पीड़ा-विलास आदि को चिरन्तन सत्ता के समुद्र में उत्थायोत्थाय लीन होने वाली लहरों के रूप में देख सकता है। यह ब्रह्म-दृष्टि, बृहत् दृष्टिकोण अथवा ब्राह्मी-स्थिति के बिना सम्भव नहीं। इसी प्रकार की तटस्थ वृत्ति और साक्षीत्व, सौन्दर्य के उपभोक्ता के लिये भी आवश्यक है। कला और साहित्य रसिक में रसानुभूति का संचार करने के लिये अनेक 'योगों' का प्रयोग इसी तटस्थ-दृष्टि को लाने के लिये करते हैं।

निश्चय है कि शृङ्गार रस के आस्वादन में भी यही तटस्थ दृष्टि होनी चाहिए। कामोपभोग में काम्य वस्तु के साथ (स्त्री के लिये पुरुष और पुरुष के लिये स्त्री) यह नहीं होता और पूर्णतया सम्भव नहीं है। इसीलिये कामोद्रेक में सम्मोह, उत्तेजना, उत्ताप और चेतना का संकोच होता है; कल्पना जड़ होती है। पुरुष के लिये स्त्री के शरीर में सौष्ठव, मार्दव, सौकुमार्य, अंग-विन्यास, अंगों का संतुलित समविभाजन, अंगांगी सम्बन्ध तथा शरीर में जीवन की लहरी, चेतना की प्रस्फुटित आभा, मुख पर पद्म की गन्ध और 'चान्द्रमसी अभिख्या', लोचनों में अर्द्ध-मुकुलित उत्पलों की शोभा, कण्ठ में कम्बु की स्वच्छ झलक और कोकिल की काकली, संक्षेप में, स्त्री के शरीर का सम्पूर्ण सौन्दर्य उस कामुक के हृदय में अवतरित नहीं हो सकता जिसकी चेतना आसक्ति से निर्वल हो रही है, जिसका शरीर कामोन्मीलन से कम्बु और उत्तेजित हो चुका है तथा जो काम के साथ-साथ रहने वाली अन्य पाशवी और ग्राम्य उद्वेगों से आन्दोलित हो उठा है। वस्तुतः कामुक के लिये स्त्री का सौन्दर्य नगण्य और आनुषंगिक है, आवश्यक नहीं जिस प्रकार भूखे मनुष्य के लिये भोजन का स्वाद, क्योंकि क्षुधार्त की तृप्ति तो स्वादहीन भोजन से भी होती है। काम-व्यापार को निरुद्ध करके तटस्थ दृष्टि से देखने वाला रसिक प्रेक्षक अपनी सम्पूर्ण चेतना के बल से स्त्री के सौन्दर्य का अवगाहन कर सकता है, काम द्वारा जड़ीकृत बुद्धि से नहीं।

प्रश्न है: तब काम का शृङ्गार रस के लिये क्या उपयोग है? नियम है कि 'स्व' अनुभूति के आधार और बल से ही हम 'सुदूर' को ग्रहण कर सकते हैं। 'अननुभूत' को हृदयंगम 'अनुभूत' द्वारा ही किया जाता है। यदि हमें 'भय' का अनुभव नहीं तो भयानक रस का अनुभव सम्भव नहीं; यदि हमने 'उत्साह' का अनुभव नहीं किया तो 'वीर' रस हमारे लिये व्यर्थ है। शृङ्गार रस का आधार यही काम का अनुभव है। काम का आधार स्त्री-पुरुष का चिर आकर्षण है जो सृष्टि के मूल की नाई अचिन्त्य रहस्य है। काम से सृजन का सूत्रपात हुआ, यह मानना कठिन नहीं है। यही हमारे पारस्परिक, कौटुम्बिक और सामाजिक स्नेह-सम्बन्धों का मूल कारण है। काम सृष्टि

की अनादि मूल शक्ति है, और, जीव और जीवन की अजर, अमर प्रेरणा। मानवीय स्तर पर यही काम प्रवृत्ति, स्नेह, प्रेम, कुटुम्ब, समाज आदि का निर्माण करती है। किन्तु इतने से ही यह समाप्त नहीं होती : अपने सृजन उद्देश्य को पूरा करके मानवीय स्तर पर यह चेतना में 'रूप' और 'सौन्दर्य' की भावना को भी उत्पन्न करती है। सम्पूर्ण 'रूपों' का मूलाधार स्त्री-पुरुष का शरीर और आत्मा हैं। चेतना के उन्मेष से मनुष्य में 'रूप' ग्रहण करने की शक्ति आती है जिसका आधार स्त्री-पुरुष सम्बन्ध है जो दूसरे शब्दों में 'काम' है। अतएव शृङ्गार रस में सौन्दर्य का आविर्भाव, रूप का विकट उन्मीलन, गति की लयात्मकता, अद्भुत आकर्षण, चेतना का विस्तार, स्मृति व कल्पना की स्फूर्ति, शरीर में रोमांच आदि, सभी का संचार 'काम' की ही अद्भुत शक्ति से सम्पन्न होता है। किन्तु कब ? जब काम की उद्दाम धारा के 'तटस्थ' होकर रसिक प्रेक्षक 'रूप' का अवलोकन करता है, उसमें निमग्न होकर नहीं।

(ग) 'उसमें निमग्न होकर नहीं'। किन्तु तब रसास्वादन में तन्मयता, रस-विभोर हो जाना आदि वाक्यों का क्या अर्थ हो सकता है ? साहित्य, संगीत, नृत्य, अभिनय आदि की अनुभूति में जब तक रसिक स्व-चेत (Self-conscious) रहता है वह उलझा रहता है, और, शब्द, स्वर, गति आदि द्वारा उन्मीलित लोकों को नहीं देख पाता। स्व-चेत दशा में वह अपने व्यावहारिक व्यक्तित्व की परिधि में घूमता है, और, अपने चारों ओर परिस्थितियों की सीमाएँ देखता है। यह चेतना और जीवन-शक्ति, आशा और कल्पना की, उन्मुक्त अवस्था नहीं है। किन्तु उन्मुक्त अवस्था में प्रवेश करना भी मनुष्य की सहज कामना है। साधारण मनुष्य भी जो साधक, आराधक या रसिक नहीं है, इस अवस्था का उपभोग चाहता है। यदि किसी वस्तु का आकर्षण उसे इस अवस्था में ले जाये तो वह वस्तु 'सुन्दर' होगी। सुन्दर वस्तु का सौन्दर्य-गुण इस उन्मुक्त अवस्था को अपने वैभव से भर देता है। तब रसिक को रसानुभूति होती है। एक ओर मन का 'रिक्त' होना और दूसरी ओर से 'भरना', ये दोनों साथ-साथ चलते हैं : सौन्दर्य के आस्वादन

में एक ओर स्वचेतना का निमीलन तो दूसरी ओर रस-चेतना का उन्मीलन होता है। ज्यों ज्यों 'चिद्' के ऊपर छाये हुए व्यक्तित्व का आवरण छिन्न होता है त्यों त्यों सुन्दर वस्तु रसिक को अपना 'रूप' समर्पित करती है : इन्द्रिय, शरीर, प्राण, हृदय, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार तथा चेतना में नूतन स्फूर्ति और गति का संचार होता है। इसी व्यापक क्रिया का नाम 'चर्वणा' है : यही रसास्वादन की अवस्था है। रसिक की 'तन्मयता' का अर्थ वस्तु के सौन्दर्य को शरीर, मन और चेतना के सम्पूर्ण प्रयत्न से स्वीकार करना, आत्मसात् करना है। व्यवहार में बहुधा इसकी आवश्यकता नहीं होती; किन्तु जहाँ वस्तुतः 'सृजन' होता है, जैसे उत्तम व्याख्यान देना, काव्य-रचना, अथवा किसी समस्या पर गम्भीर विचार करना, इन सृजन के क्षणों में मनुष्य अपने एकांश से काम नहीं ले सकता। प्रत्युत वह सर्वांश से, सर्वात्मना, उस वस्तु में 'प्रवेश' करता है। यही अवस्था सौन्दर्य-आस्वादन में भी होती है। यह सृजनात्मक अनुभूति है। जब तक प्रेक्षक सुन्दर वस्तु में 'सर्वात्मना' प्रविष्ट नहीं करता, वह उसके सौन्दर्यावगाहन में समर्थ नहीं हो सकता। एक मूर्ति को देखिए। ध्यान की चंचलता में अथवा एकांशी अवधान में, प्रेक्षक उस शिलाखण्ड में उन्मीलित भावों तक कैसे पहुँचेगा ? प्रेक्षक अपने ही चेतना व अवधान के बल से मूर्ति के आरोह-अवरोह, रेखाओं के गति-विन्यास, बंक, उभार, मुद्रा-भंगिमा आदि में शान्ति, प्रेम, करुणा, वैभव, शक्ति-ओज आदि गम्भीर आध्यात्मिक भावों का उन्मीलन करता है। तन्मयता का अर्थ एक ओर व्यक्तित्व के आवरणों का छिन्न होना तो दूसरी ओर सौन्दर्य को सर्वात्मना आत्मसात् करना है।

स्व-चेतना (Self-consciousness) तन्मयता (Self-absorption) का विलोम है। 'तन्मय' होने से अद्भुत सुख होता है तो 'स्वचेत' होने से पीड़ा। सौन्दर्य के अवगाहन का सुख 'तन्मय' होने का सुख है। श्रृंगार रस में यह 'तन्मयता' सर्वाधिक होती है। यही इसके परम माधुर्य और आकर्षण का आधार है। किन्तु श्रृङ्गार रस में 'तन्मयता' का मूल स्वयं काम है। काम-प्रवृत्ति में काम्य वस्तु के साथ तदाकारता प्राप्त करने की प्रवृत्ति

रहती है। कामोन्मेष में कामुक और कामिनी का 'अद्वैत', शरीर-मन-चेतना का एकीभाव अनुभव-सिद्ध है। शृङ्गार रस में रसिक और सुन्दर वस्तु का यही अद्वैत और एकीभाव तन्मयता का स्रोत है। काम के कलात्मक उन्मेष से अथवा अभिनय में मंच आदि पर 'विभावों' के सृजन से, कामुक-व्यापार के स्थगन होने पर भी, शृङ्गार रस में अद्भुत 'चमक' आ जाती है। वस्तुतः यह कहना चाहिए कि शृङ्गार रस में काम का उपभोग शरीर के स्तर से ऊपर उठ कर (अर्थात् केवल शारीरिक न रह कर) मन, बुद्धि, चित्त और रसिक की कलात्मक चेतना के स्तरों पर होता है : काम का, मानसिक उन्मेष सौन्दर्य और रूप के द्वारा होता है जिससे बुद्धि में सन्तुलन, सामञ्जस्य, विन्यास आदि की चेतना संचरित होती है। जीवन और चेतना के अनेक स्तरों पर गति और प्रवाहों के संचार से शारीरिक स्तर पर होने वाला कामोपभोग स्वयं फीका पड़ जाता है।

शृङ्गार रस में यह सर्वाधिक होता है, क्योंकि हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत, इन रसों में रसनीय वस्तु 'काम्य' नहीं होती। कुछ चिन्तक तो इन्हें 'रस' ही मानने को तैयार नहीं। हास्य में हास्यास्पद, करुण में दुःखद, रौद्र में क्रुद्ध, वीर में उत्तेजित, भयानक में भयावह, बीभत्स में जुगुप्सित तथा अद्भुत में आश्चर्यान्वित करने वाली वस्तुएँ रसोद्बोधन के लिये प्रस्तुत की जाती हैं। इनमें कोई भी 'वस्तु' ऐसी नहीं जो काम्य और कमनीय हो सके। कला और साहित्य अपनी रासायनिक विधियों से ही अन्य रसों में अकाम्य और अकमनीय पदार्थों को रसनीय बनाते हैं। शृङ्गार रस की यह स्वाभाविक विशेषता है कि वह रसिक के लिये जन्मजात कमनीय वस्तु को ही आस्वादन के लिये उपस्थित करता है। फलतः काम-प्रवृत्ति की सहज 'तन्मयता' शृङ्गार रस में तन्मयता का आधार बन जाती है।

(घ) शृङ्गार रस में कामोन्मेष शारीरिक स्तर पर मानने में क्या क्षति है? इसके कई उत्तर ऊपर दिये जा चुके हैं, जैसे, एक तो यह सम्भव नहीं है, दूसरे इससे उत्ताप और उत्तेजना ही पैदा होते हैं जो रसानुभूति के विरोधी हैं। वस्तुतः इस प्रश्न का उचित उत्तर यह होगा कि केवल शारी-

रिक स्तर पर कामोन्मेष होने से 'अनुभूति' की समग्रता नष्ट हो जाती है। 'सुन्दर वस्तु समग्र' होती है, पूर्ण और अविकलाङ्ग। अपूर्ण और विकलाङ्ग वस्तु सुन्दर नहीं हो सकती, क्योंकि सौन्दर्य अंगों के सन्तुलित विन्यास से उत्पन्न होता है। अपूर्ण विन्यास में सन्तुलन सम्भव नहीं, और सन्तुलन के अभाव (Imbalance) में वस्तु में 'गति', जीवन, स्फूर्ति, शक्ति आदि का अनुभव सम्भव नहीं। सौन्दर्य निर्जीव नहीं होता : वह जीवन व चेतना के सभी पार्श्वों और स्तरों पर 'हलचल' उठाता है, बुद्धि में नूतन बोध का उन्मेष करता है, और, चित्त में आनन्द का संचार। अतएव केवल काम-व्यापार सौन्दर्यानुभूति को जगाने में असमर्थ होता है। सुन्दर वस्तु की भाँति सौन्दर्य की अनुभूति भी समग्र होती है। वह सम्पूर्ण मनुष्य को स्पर्श करती है, एकांश को नहीं। हमने पहले ही कहा है कि रसास्वादन के लिये रसिक को आवश्यक है कि वह 'सर्वात्मना' वस्तु में प्रवेश करे। यदि रसिक के व्यक्तित्व का कोई भी अंश वस्तु को ग्रहण करने में हिचकता है तो निश्चय ही वह सुन्दर नहीं है। अतएव शृङ्गार रस में काम को शरीर के अथवा किसी भी एकांश के स्तर पर सीमित कर देना उसे विरस बना देना होगा। शृङ्गार रस का उत्कृष्ट रूप अभिज्ञान शाकुन्तलम्, रामायण आदि ग्रन्थों में मिलता है, किन्तु इनके सौन्दर्य-वर्णन में कहीं भी कामोद्रेक की साधारण विह्वलता नहीं मिलती, कारण कि कवियों ने सुन्दर वस्तु के सृजन में काम को शारीरिक स्तर पर नहीं रहने दिया है, बल्कि उसमें हृदय की उदात्त वेदनाओं को भरा है, कल्पनाओं को उड़ान भरने के लिये नूतन क्षितिज खोल दिये हैं, विचारोन्मेष के लिये समस्याओं को उठाया है, अभूतपूर्व लोकों और चरितनायकों की सृष्टि की है, संक्षेप में, कवि-सृष्टियों ने रसिक की अनुभूति को इतना पूर्ण, सर्वाङ्ग और समृद्ध बनाया है कि केवल शारीरिक स्तर पर कामोपभोग सम्भव नहीं रहा।

एक बात यह भी है कि केवल जीव-सृष्टि की आवश्यकता के लिये काम 'शरीर' से सम्बद्ध है, वरन् अपने विराट् रूप में काम का सम्बन्ध मन, बुद्धि, जीवन तथा चेतना के प्रत्येक पार्श्व और स्तर से है। काम मौलिक भावना

है : वह शरीर में उत्तेजना (Tensions) के रूप में व्याप्त है तो मन में आशा और संकल्प बन कर बैठा है। बुद्धि में विचार-स्फूर्ति उसी से मिलती है, चेतना में गति, विस्तार और स्फीति का मूल स्रोत वही है। काम का यह विराट्, पारमार्थिक रूप शृङ्गार रस में उदित होता है, केवल कामुकता बन कर नहीं। यही कारण है कि शृङ्गार रस इतना गम्भीर, व्यापक और गतिमान् होकर अनुभूत होता है।

(ङ) सब कुछ कह लेने पर भी, शरीर से काम का और काम से शृङ्गार रस का सम्बन्ध बना रहता है। शरीर में कामोद्रेक से उत्तेजना, स्नायु-मण्डल में गति, प्राण, श्वासोच्छ्वास में परिवर्तन, रुधिर, मांस-ग्रन्थियों में नये रासायनिक तत्त्वों का सृजन तथा अन्ततः पेशियों में 'व्यापार' का आविर्भाव होता है। समस्त शरीर का यह आन्दोलन 'काम' में होता है, और, यह मन में काम-चेतना को उत्पन्न करता है। काम को 'मनोज' माना गया है। आधुनिक विज्ञान शरीर और मन में इतना अन्तर नहीं मानता। अतएव हमें यह मानना कठिन न होगा कि 'मनोज' काम शरीर में अनेक व्यापारों को जगाता है तथा शारीरिक व्यापार इसे व्याप्त और पुष्ट करते हैं। प्रश्न यह है कि शृङ्गार रस के उपभोग में काम के इस शारीरिक और मानसिक 'आन्दोलन' का क्या स्थान व महत्त्व है? क्या इसके बिना काम की प्रबल अनुभूति सम्भव है, तथा, क्या शृङ्गार रस के अनुभव में जो 'वेग' (Intensity) रहता है वह काम के प्राबल्य के बिना रह सकता है? संक्षेप में, शृङ्गार रस की अनुभूति से कामोद्दीपन के साथ-साथ होने वाले शारीरिक व्यापार का क्या सम्बन्ध है?

रसानुभूति में 'वेग' रहता है किन्तु 'उद्वेग' नहीं। वेग का मूल भावनाओं (Emotions) का उत्थान है। भावना किसी विशेष परिस्थिति में 'स्थायी भाव' के जगने से उठती है। परिस्थिति के अनुरूप क्रिया और व्यापार जीव का स्वाभाविक धर्म है, जैसे भय में कम्पन, भागना आदि; दुःख में क्रन्दन, अश्रुपात। परिस्थिति के अनुरूप क्रिया को जगाने के लिये भावना आवश्यक है, किन्तु समुचित और सफल क्रिया के लिये मन और

शरीर में उत्तेजना (Tensions) होती है जिससे भावना का वेग (Intensity) उद्वेग (Agitation) का रूप धारण करता है। उद्वेग से क्रिया सबल और सफल होती है जिससे हमें 'तृप्ति' का सुख मिलता है। काम में भी यही होता है। किन्तु कला और साहित्य में 'परिस्थिति' का रूप ऐसा नहीं होता कि वहाँ क्रिया की आवश्यकता हो। सौन्दर्यावगाहन के क्षण में वास्तविक परिस्थिति के अनुरूप कोई व्यापार आवश्यक नहीं होता। आवश्यक यह होता है कि शरीर 'उत्तेजना' से मुक्त होकर इन्द्रिय-कुल्याओं द्वारा रूप-रंग-रेखा-गति आदि को मन में प्रविष्ट होने दे तथा स्वर-शब्द-अर्थ आदि से निर्मित भाव-लोकों में विचरण करने दे। विभावों द्वारा सृष्ट परिस्थितियों में भावना जाग्रत होती है वेग के साथ, किन्तु कार्य-कलाप के उपरत होने से उस वेग में उत्ताप, उत्तेजना और उद्वेग नहीं रहते। उद्वेग-शून्य भावनाओं का वेग रसानुभूति को तीव्र बनाता है। शृङ्गार रस में स्त्री-पुरुष तथा अन्य परिस्थितियों का सृजन 'विभावनीय' होता है जिसमें काम-तृप्ति की गुंजाइश नहीं, कोई शारीरिक चेष्टा आवश्यक नहीं, जिनका ग्रहण मन, बुद्धि तथा चेतना के कई स्तरों पर होता है, जो 'सम्पूर्ण' मनुष्य द्वारा 'सर्वात्मा' से अवगत किया जाता है तथा जिसमें काम के व्यापक, मौलिक तथा विराट् रूप का उदय होता है। अतएव साहित्य और कला के जगत् में गति होती है किन्तु चंचलता नहीं; वेग रहता है, उद्वेग नहीं; नायक-नायिका के लावण्य-तारुण्य-रूप आदि की सम्पदा रहती है किन्तु कामुकता-जन्य उत्ताप नहीं; आकर्षण होता है किन्तु बन्धन नहीं। अनुभूति की समग्रता, भावना की व्यापकता, नूतन प्रकाशों का प्रस्फोट तथा चेतना के पूर्ण उन्मेष से, काम का शारीरिक आन्दोलन अपने व्यापारिक उद्देश्य से रुक कर शृंगार रस की धारा को और भी प्रबल बना देता है।

(२)

अब दूसरा प्रश्न सरल है : हमने माना है कि शृङ्गार रस की प्रियता, माधुर्य, व्यापकता, वेग तथा आकर्षण, गम्भीरता तथा द्रावकता आदि गुणों का आधार काम है। किन्तु यह भी स्पष्ट है कि कामोद्रेक और 'रस' में

विरोध भी है : दोनों अनुभूतियों का साथ रहना कठिन है। कला और साहित्य अनेक उपायों से काम का रस में रूपान्तरण करते हैं। मूर्तिकार जिस प्रकार जड़, अनगढ़ शिलाखण्ड में से चेतना से झिलमिलाती हुई मूर्ति का उन्मीलन करता है तथा जिस प्रकार अन्यान्य कलाएँ अनेक उपादानों से 'रूप' का आविष्कार करती हैं उसी प्रकार कलाकार तथा साहित्यिक 'जीवन' से ही सामग्री का चयन करके अपने माध्यमों से सौन्दर्य का सृजन करते हैं। जीवन ही कला और साहित्य के लिए सामग्री का अक्षय निधि है : काम जीवन में ओत-प्रोत है। अतएव सृष्टा कवि और कलाकार काम और जीवन को छोड़ कर जा नहीं सकते। इसी से वे रूप और सौन्दर्य का आविष्कार करते हैं। किन उपायों से ? यह प्रश्न है।

काम की प्रियता को कला के रस में परिणत करने के लिए कला एवं साहित्य निम्नलिखित विधाओं को अपनाते हैं—

(१) काम को 'रूप' प्रदान करना प्रमुख और प्रथम उपाय है। वासना की स्थिति में काम रूपहीन उद्वेग अथवा मानसिक ववंडर के रूप में रहता है। इसी से शरीर और मन में उत्तेजना होती है। 'रूप' अङ्गों के विन्यास से उदित होता है। 'सुरूप' में सन्तुलन, गति, अवयवों का समविभाजन व सामञ्जस्य तथा व्यञ्जकता आदि गुण रहते हैं। रूप का उदय किसी माध्यम में होता है, जैसे स्वर, शब्द, रंग-रेखा, शिला-खण्ड आदि। साहित्य में शब्द के साथ अर्थ भी रूप का माध्यम होता है। कलाकार तथा साहित्यिक काम को किसी उपयुक्त माध्यम द्वारा 'रूप' प्रदान करते हैं। अवयव-शालिनी मूर्ति की रचना, रेखाओं की गति व योजना से निर्मित चित्र जिसमें रंगों का सन्तुलित विन्यास भी हो, अथवा कोई प्रेम का गीत जिसमें स्वर-माधुर्य, उतार-चढ़ाव, शब्दों का गौरव, व्यञ्जना की तीव्रता आदि गुण हों, ऐसे 'रूप' के नूतन आविष्कारों में बँध कर काम प्रिय व सरस हो उठता है तथा इसका 'वासनामय' भाव निम्न स्तरों से उठ कर चेतना के ऊँचे स्तरों पर स्फुरण करने लगता है। कारण यह है कि 'रूप' का ग्रहण उत्तेजना की अवस्था में कठिन है; इसके लिए रसिक की आत्मा को उच्चस्तरीय प्रयत्न

करना ही पड़ेगा। यही कारण है कि न केवल काम (जो कमनीय तो होती है) किन्तु वेदना, भय, क्रोध, जुगुप्सा आदि की अकमनीय और दुःखद भावनाएँ भी 'रूप' ग्रहण करके, मूर्ति, चित्र, कथावस्तु, अर्थ, गीत आदि में निरूपित होकर, वासना की जड़ता को छोड़ रसता को प्राप्त होती हैं। संक्षेप में, कला का लक्ष्य अरूप, मानसिक झंझावत् (Psychic storm), जड़, उद्वेगपूर्ण मनुष्य की स्थायी वासनाओं को 'रूप' प्रदान करके उन्हें रससीय बनाना है।

साहित्य और कला में जहाँ काम रूप ग्रहण नहीं कर पाता वहाँ अवलीलता व ग्राम्य होने का दोष उत्पन्न हो जाता है। मतिराम, देव, विहारी आदि के रीतिकालीन साहित्य में मुक्तक दोहे, छन्दों या पदों में दम्पति जीवन की साधारण घटनाएँ ली गई हैं। नायक-नायिका के सूक्ष्म, गुह्य, गोपनीय लीला-विलास तथा भावों को पदबद्ध करके 'ललित' बनाने का प्रयत्न किया गया है। किन्तु उस युग की विशेष परिस्थिति, जन-हचि तथा अन्यान्य कारणों से उद्दाम काम-वासना अलंकारों से अलंकृत होकर, कोमल कान्त पदावली का परिधान पहन तथा कवि-प्रतिभा से चमक कर भी कलात्मक 'रूप' न पाने के कारण वस्तुतः सरस और सुन्दर न हो सकी। कलात्मक रूप ही काम को रस में परिणत कर सकता है।

(२) 'रूप' के कारण हम काम को चेतना के ऊँचे स्तरों पर ग्रहण करते हैं। कला और साहित्य में 'अर्थ' का गहरा पुट देकर भी काम को उदात्त बनाया जाता है क्योंकि अर्थ-बोध के लिये भी हम अवश वासना और उद्वेग के स्तर से ऊँचे उठ कर विचार के स्तर पर जाते हैं। यह माना कि रस केवल अर्थ-बोध नहीं है : उसमें भावना की सरसता आवश्यक है। किन्तु रस केवल अन्धा, जड़ उद्वेग भी नहीं होता। भावना और अर्थ का अन्योन्य प्रवेश (जैसे अर्थों का भावना से पग कर मीठा होना) रसानुभूति का आधार है। अर्थ के बिना भावना अन्ध और आलोक शून्य 'आन्धी' है तथा भावना के बिना अर्थ निर्जीव, क्षुद्र प्रकाश है। मूर्तिकार जो मूर्ति बनाता है यदि उसके पीछे किसी महत्त्वपूर्ण विचार का प्रकाश नहीं है तो

उसके देखने से चर्वणा जाग्रत न होगी। विना चर्वणा रस कहाँ। इसीलिए नग्न मूर्तियों के बनाने वाले मूर्तिकार ओज, आदिम शक्ति, लयात्मक गति और सन्तुलन, भारसाम्य और जीवन—तथा चेतना से सम्बन्ध स्थापना आदि उपायों के द्वारा 'अर्थवत्ता' (Significance) उत्पन्न करते हैं। तभी तो नग्न मूर्तियाँ (Nudes) 'ग्राम्य' उद्वेग उत्पन्न न करके रस की उदात्त अनुभूति को उत्पन्न करने में सफल होती हैं। काम को जब 'अर्थवत्ता' प्राप्त हो जाती है तो वह नर-नारी के बाह्य सौन्दर्य को आध्यात्मिकता और आन्तरिकता (Internalization) प्रदान करता है। सीता, शकुन्तला, द्रौपदी आदि के सौन्दर्य-वर्णन में अथवा ऊँचे कलाकारों द्वारा रचित मूर्ति और चित्रों में, बाह्य सौन्दर्य की पराकाष्ठा होते हुए भी काम-वासना का उद्दीपन नहीं होता, कारण कि उनकी आकृतियों में रूप का सौन्दर्य होते हुए भी गम्भीर उद्देश्य की स्पष्ट प्रतीति होती है। इनके सौन्दर्य का पूर्णरूप से अवगाहन करने के लिये इस उद्देश्य को अवगत करना आवश्यक है। ऐसे काव्य और कला के नमूने मिलेंगे जहाँ प्रत्येक भंगिमा, चेष्टा और मुद्रा में केवल 'कामुकता' ही उद्देश्य रहता है। श्रीहर्ष के द्वारा प्रस्तुत नल-दमयन्ती के रति-वर्णन में तथा अन्यत्र भी नख-शिख वर्णनों में केवल काम-तृप्ति, कामोद्दीपन के अतिरिक्त कोई गम्भीर अर्थवत्ता एवं उद्देश्य दिखाई नहीं पड़ते। अतएव यत्र-तत्र काव्य-कला के कौशल द्वारा कामुक-प्रवृत्ति को छिपाने, सजाने आदि का प्रयत्न करने पर भी शृङ्गार रस में 'परिपाक' की कमी स्पष्ट दिखाई पड़ती है। परिपक्व अवस्था में शृङ्गार-रस को प्रस्तुत करना कालिदास की कला की विशिष्टता है। सम्भोग हो या विप्रलम्भ, कालिदास कामुकता को गम्भीर अर्थवत्ता व उद्देश्य के द्वारा रस में परिणत कर देते हैं। शाकुन्तलम् के पूर्व भाग में भी जहाँ सम्भोग की प्रस्तावना है वहाँ काम के औचित्य, उसके विकट वेग, भयंकर अन्तर्द्वन्द्व, पीड़ा की असह्यता किन्तु 'कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु' आदि द्वारा प्रकट विवशता, 'मुखमंसविवर्त्ति पक्ष्म-लाक्ष्याः प्रतिषेधाक्षर विकलवाभिरामम्' आदि द्वारा सुन्दर एवं स्वाभाविक भंगिमा का चित्रण, इन सब उपायों द्वारा काम का उद्वेक परिपक्व शृङ्गार

रस की अनुभूति उत्पन्न करता है। अन्यत्र तो जैसे मेघदूत, कुमार सम्भव आदि में 'तन्वी श्यामा शिखरि दशना पक्व विम्बाधरोष्ठी' आदि वर्णनों में चित्रण की विचित्रता ही कामुकता को उदात्त बनाने के लिये पर्याप्त है।

अर्थवत्ता से वेष्टित करके काम को मन, बुद्धि और चिन्तन के स्तर पर लाया जाता है। इसे दार्शनिक स्तर तक भी उठाया जा सकता है : जीवन और जगत् की समस्याओं के साथ जोड़ देने से काम दार्शनिक भूमि पर चढ़ जाता है। आदम और हौवा की नग्न मूर्तियों का सृजन, सृष्टि की अन्य शक्तियों का वर्णन एवं चित्रण, कामोद्दीपन न करके विमर्श (Reflection) का उत्थान करता है। उत्कट भोगेच्छा और इसकी तृप्ति की सीमाओं में द्वन्द्व को प्रस्तुत करके भर्तृहरि काम के माध्यम से शृङ्गार रस की पुष्टि करते हैं। वस्तुतः उनका 'वैराग्य' शृङ्गार रस के परिपाक की सीमा है। काम की विकट शक्ति, उसकी सहज प्रेरणा और अदम्य प्रवृत्ति ही स्वयं रसिक के मन, बुद्धि तथा गम्भीर चेतना में अनेकों विचार-विमर्श को संचरित करती हैं जिससे काम का उपभोग दार्शनिक समस्या बन जाता है। शृङ्गार रस के परिपाक की पराकाष्ठा इसी दार्शनिक स्तर पर होती है, जहाँ काम अर्थवत्ता से गर्भित होकर विमर्शात्मक दृष्टि (Reflective attitude) का पोषण करता है।

(३) अर्थवत्ता बौद्धिक तत्त्व है। इससे काम के फीके पड़ने या शिथिल होने की तो आशङ्का नहीं, परन्तु अर्थालोक से सम्भवतः वेग में कमी आ जाय इसीलिए कलाकार काम को अन्य भावनाओं से भावित करते हैं। करुणा (Pathos) से इसे भावित करने की पुरानी काव्य-प्रथा है। काम में विरह द्वारा करुणा का विमिश्रण किया जाता है। विलाप, उपालम्भ, स्मरण आदि प्रधान काव्यों में विरह के कारण काम रसनीय हो जाता है। कुछ वीर काव्यों में वीर-भावना का पुट शृङ्गार पर चढ़ाया जाता है, जैसे दुर्गा सप्तशती, रासो काव्य आदि। विरह काव्यों में मेघदूत उत्तम है; विरह की विवशता के कारण इसमें अन्तर्द्वन्द्व बढ़ गया है और काव्योद्गार हिमालय के निर्झरों की भाँति स्वयं निःसृत हो उठे हैं। किन्तु विरह की विवशता

उस समय तीव्रतम होती है जब वह किसी उदात्त भावना के कारण स्वयं अङ्गीकृत की जाय। रीति काव्यों में विरही और विरहिणियों के वर्णन हैं : कोई प्रोषित पतिका है तो कोई खण्डिता; कोई मानिनी है तो कोई विमानिता। विरह की टोस सब में है। पति व्यापार के लिये बाहर गया है या अभी 'गौने' की चर्चा चल रही है और काम का प्रथम ही स्फुरण हुआ है। इन सब विरह की दशाओं में काम को विरह से मिला कर उसे तीव्र 'रस' बनाने का प्रयत्न है। एक स्थल पर तो विरही पथिक पति आकाश में नव मेघ मालिका को देख कर घर जाते-जाते रुक जाता है (न प्रयाति पथिकः स्व मन्दिरम्) क्योंकि उसके मन में भाव उठा : यदि मेरे विरह के कारण मेरी प्रिया मृत्यु को प्राप्त हो गयी तो घर जाना व्यर्थ है, और, यदि मुझे वह जीवित मिली तो इसका अर्थ है कि उसके मन में मेरे प्रेम की तीव्रता नहीं है जो विरह के कारण गतप्राण हो जाय। तब भी घर जाना व्यर्थ है। इस प्रकार अनेक उपायों से काम को विरह से गर्भित कर तीव्र शृङ्गार रस में परिणत किया जाता है। विरह का सबसे उदात्त रूप उत्तररामचरित में या महाभारत में मिलता है जहाँ काम कला के प्रभाव से करुणा में रूपांतरित हो गया है। भोग और वियोग का इतना ओजस्वी सम्मिश्रण और कहाँ मिलेगा !

हास्य शृङ्गार का सहचर है। करुणा के साथ काम का संयोग 'करुण' उत्पन्न करता है जो विप्रलम्भ के रूप में शृङ्गार रस की उत्कृष्ट भूमि है। कुछ कवियों ने काम को रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स तथा अद्भुत रसों से भी संयोजित करने का प्रयास किया है। काम अपने 'सुकुमार', सौम्य रूप में भी आता है, साथ ही, कठोर और असौम्य रूप में भी। देवी, शक्ति, चामुण्डा तथा अन्य वीर-वीराङ्गनाओं के शृङ्गार वर्णन में यही देखा जाता है। कहीं-कहीं शृङ्गार शतक में और वैराग्य शतक में 'प्रभाव' को प्रखर बनाने के लिए वीभत्स (जुगुप्सा पर आधारित) को शृङ्गार से जोड़ा गया है। ये सब संयोजन स्वाभाविक प्रतीत नहीं होते। काम का स्वाभाविक सम्बन्ध विरह से है जिससे विप्रलम्भ का आविर्भाव होता है।

ऐतिहासिक परिस्थितिबश संस्कृत और हिन्दी काव्यों में काम को असत्य धार्मिक भावना (False religiosity) से भी जोड़ने का असफल एवं अतमीचीन प्रयत्न हुआ, जिससे राधा-कृष्ण सम्बन्धी शृङ्गार रस का साहित्य हमें प्राप्त हुआ। काम का मर्यादा से विरोध प्रसिद्ध है। धर्म काम को मर्यादित करता है, उसे उदात्त बनाता है, किन्तु कभी परिस्थितिबश धर्म काम को विनाश करने की भी सोचता है। यहाँ धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रियाएँ खड़ी हो जाती हैं। हमारे देश में बौद्ध धर्म के उत्थान और फिर उसके पतन के अनन्तर जिस साहित्य का सृजन हुआ उसमें उत्तम कलाकारों ने काम को सुरूप प्रदान किया, किन्तु वाम मार्गी, सन्त-पण्डित विरोधी दलों ने पंच मकार वाले मतों का प्रचार किया, और, इन मतों को धर्म की उदात्त भूमि पर लाने के लिये राधा-कृष्ण की कल्पना की। इस कथन की ऐतिहासिक वास्तविकता जो भी हो, राधा-कृष्ण काव्य काम को 'धर्म' की भ्रामक पवित्रता देने का प्रयत्न था। कहीं-कहीं तो काम इस काव्य में शृङ्गार रस की परिपक्व अनुभूति उत्पन्न करने में सफल भी हुआ है, जैसे चण्डीदास के पद और सूर-काव्य, किन्तु रीतिकालीन मुक्तक छन्दों में प्रायः काम रस की भूमि पर नहीं पहुँचता। धर्म और काम कला की रसायन में न पक कर अलग दिखाई पड़ते हैं। सम्भवतः ये दोनों विजातीय तत्त्व हैं जिनका एकीकरण सहज न हो, क्योंकि इन दोनों के मिश्रण का सफल साहित्य कम देखने को मिलता है।

(४) दूरतापादन के कौशल (Distancing device) से भी काम को रसनीय बनाने की परिपाटी है। कथावस्तु की कल्पना करना इसी की सामान्य विधि है। स्त्री-पुरुष के यौन सम्बन्धों को किसी कथानक में रख कर उपन्यास, गल्प, काव्य, आख्यान आदि का रूप दिया जाता है। कथावस्तु कितना रोचक, उदार और सुन्दर है, इसी पर 'काम' का रस-परिपाक निर्भर होता है। समाज, इतिहास, पुरावृत्त, चरित-चित्रण आदि कथावस्तु के लिए पृष्ठभूमि का काम करते हैं। 'एक राजा था और एक रानी' — इसी प्रकार के कथानक पुराने साहित्य में प्रायः मिलते हैं। आधुनिक साहित्य में

यौन-समस्याओं का अदभुत आकर्षण है जिससे कथा, उपन्यास और काव्य साहित्य का बड़ा भाग कामावत (Sexy) हो गया है। काम को बहुत समय तक 'घृणित' निम्न वृत्ति समझा गया जिसका दमन होना ही चाहिए। विज्ञान ने इसे जीवन की प्रमुख और अदम्य वृत्ति सिद्ध किया जिसका दमन व्यक्ति एवं समाज दोनों के लिये अहितकर है। तब तो कामवृत्ति का चित्रण (Treatment of Sex) साहित्य में भर गया है तथा काम (sex) को संस्कृत या रूपान्तरित करने का प्रयत्न भी अवैज्ञानिक माना गया है। पुरानी प्रेम-गाथाओं एवं प्रेम-काव्यों में भी काम को सँवारने की प्रथा थी; प्रेमाख्यानों को दार्शनिक, प्रतीकात्मक बनाने का भी प्रयत्न किया गया था। 'वैलड' गीतों में प्रेम की मार्मिकता थी। विज्ञान इसे अस्वाभाविक और अनावश्यक समझता है। विज्ञान ने स्वयं एक 'दृष्टिकोण' दिया है जो, इसके अनुसार, स्वस्थ और स्वाभाविक है। साहित्य और कला में यही दृष्टिकोण दूरतापादन की विधि का काम देता है। इस दृष्टिकोण का सार यह है कि काम हमारी सहज, प्रमुख और प्रबल प्रवृत्ति है, जीवन एवं जगत् की विराट् योजना में इसका स्थान है। इसकी अभिव्यक्ति में पाप, घृणा, लज्जा या नीचता की बात ही क्या? इसे जुगुप्सित, हेय, गोपनीय समझना नासमझी है। इसका चित्रण विज्ञान की तटस्थ दृष्टि से यथावत् होना चाहिए। मानना होगा कि विज्ञान का यह तर्क अकाट्य है। इसी तर्क के आधार पर काम-वृत्ति ने साहित्य में प्रमुख स्थान ग्रहण किया है। काम प्राकृतिक प्रवृत्ति है, इस पर संस्कृति, सभ्यता या धर्म का रोगन चढ़ाना व्यर्थ है। काम का अपना स्वभाव है : वह अन्धी भूख है, उसे 'तृप्ति' चाहिए, और, कुछ विधि-निषेध या मीमांसा उसे मान्य नहीं। उसके अपने विधान हैं : वह स्वयं अपने लिये आकर्षण-विकर्षण के केन्द्र बना लेता है। प्रेम की त्रिकोणात्मक समस्या (Triangle of love) प्रख्यात है। मानना होगा कि काम के ऊपर यह वैज्ञानिक दृष्टि उसके 'उद्वेग' को बहुत कुछ शान्त करके उसे सुरूप प्रदान करती है। किन्तु प्रश्न यह रह जाता है कि विज्ञान ने काम को 'समस्या' बना दिया है। क्या यह बौद्धिक तत्त्व काम को 'रसनीय' भी बना सका है?

(५) बात यह है कि विज्ञान ने कला व साहित्य को रस तथा सौन्दर्य की यथार्थवादी मीमांसा स्वीकार करने के लिये बाध्य किया है। 'यथार्थ' ही सुन्दर है, वही रसनीय है और विचारणीय भी। परन्तु मनुष्य में 'कल्पना' उतनी ही सच्ची है जितनी अन्य कोई प्रवृत्ति। अतः विज्ञान को अपने तर्क के ही अनुसार 'कल्पना' को भी स्वीकार करना चाहिए। तब तो यथार्थ और अयथार्थ का भेद ही भ्रामक है। वर्तमान साहित्य का यही आधार है। 'यथार्थ' और 'अयथार्थ' की भेद भूमि स्पष्ट नहीं है। कहाँ तक निरीक्षण (observation) जाता है, और, कहाँ कल्पना (Imagination) का प्रारम्भ होता है, कहना कठिन है। आधुनिक मनोविज्ञान तो कल्पना के बिना निरीक्षण की तथा निरीक्षण के बिना कल्पना की गति ही सम्भव नहीं मानता। इस स्थिति में साहित्य अपने आपको 'यथार्थ' की सीमा में क्यों संकुचित करे? उसे कल्पना का सम्बल आवश्यक और उपयोगी है। तब तो काम को शृङ्गार रस की भूमि पर लाने के लिये कला एवं साहित्य कल्पना का उपयोग करते हैं। कल्पना के साहित्य में दो कार्य हैं : एक, नूतन, अभूतपूर्व का सृजन; दो, अनुभूतपूर्व वस्तुओं का अतिशयीकरण (Idealization)। दोनों ही रूप आनन्द की वृद्धि करने वाले हैं। साहित्यकार काम की प्रस्तावना से कल्पना का आनन्द, नूतन परिस्थितियों और लोकों के सृजन का सुख, स्त्री-पुरुष के यौन सम्बन्धों में अतिशय सौन्दर्य की उद्भावना, लाता है जिससे काम की 'कामुकता' कम होती है और उसकी रसनीयता में वृद्धि होती है। काम की प्रस्तुति के लिये अद्भुत तथा रमणीय प्राकृतिक और सामाजिक परिस्थितियों की कल्पना से काम कमनीय हो उठता है। गीत गोविन्द, भागवत के कृष्ण-गोपी संवाद, रीति-कालीन गीत और दोहे, 'बैलड', गज़ल, ऋतुवर्णन आदि शृङ्गार रस प्रधान साहित्य में कल्पना के द्वारा ही इतनी रोचकता, मार्मिक वेदना और कहीं-कहीं सुस्निग्धपूर्ण आनन्द का अनुभव होता है। वर्तमान साहित्य में भी जहाँ काम को रस-भूमिका प्राप्त हुई है वह केवल कल्पना के रसायन द्वारा ही।

इसे यों समझिए : शास्त्रों में काम की सेना का वर्णन है। वह पंच शर है; उसके शर भी पुष्पों के बने हैं। रति उसकी प्रिया है। संगीत, नृत्य आदि उसके सहायक हैं। मधु-माधव उसके सखा हैं। वह स्वयं सूक्ष्म एवं मनसिज है और चेतना के सभी स्तरों में व्याप्त है। अपनी पूरी सेना के साथ—कोकिल, मधु ऋतु, कमल, पवन, मधुप, मंजरी आदि के साथ—वह अजेय है। यही काम वस्तुतः शृङ्गार रस का आधायक और प्रतीक है।

कला-मीमांसा के मूलधार

सच्ची बात को सीधे प्रकार कहना कला है, शर्त्त यही है कि बात सच्ची हो और प्रकार सीधा। यों तो कला की उतनी ही परिभाषा सम्भव है जितने परिभाषा करने वाले, किन्तु हमें तो यही परिभाषा सच्ची और सीधी प्रतीत होने के कारण ग्राह्य है। इसमें दो तत्त्व हैं : सच्ची बात अर्थात् कलाकार की सच्ची अनुभूति जो अभिव्यक्ति के योग्य है। यह अभि-व्यंग्य तत्त्व है। इसका स्वरूप जो हो, और, वह प्रत्येक कला में अवसर और स्थिति के अनुसार भिन्न हो सकता है, किन्तु 'अभिव्यंग्य' तत्त्व के बिना कला का अस्तित्व सम्भव नहीं प्रतीत होता। कला का प्रथम माध्यम तो कलाकार स्वयं है : उसी के किसी मानस के कोने में इसका स्फुरण होता है, जैसे प्राची के क्षितिज की ओर सुदूर सिन्धु से सुधाकर का उदय। यह अभिव्यंग्य तत्त्व कलाकार की मानवता ही हो सकती है, चाहे वह उसकी अन्तरात्मा की कोई प्रखर वेदना हो, बुद्धि की कोई सूझ हो, मन का कोई मर्म हो, चित्त का प्रसाद या अहम्भाव, उल्लास, आत्म-विजय, गम्भीर निर्वेद, विषाद, जो भी कुछ हो। कला का दूसरा तत्त्व है 'सीधा प्रकार' अर्थात् अभिव्यंजक सामग्री और उसका विन्यास। कलाकार जब अभिव्यंग्य तत्त्व का भार गर्भ की नाई 'अपने' में रक्खे हुए 'प्रसव' वेदना से व्याकुल होता है तो केवल उसे उचित सामग्री और रूप में अभिव्यक्त करके ही वह शान्ति लाभ करता है। कितने ही ऐसे व्यक्ति संसार में हैं—और सारा संसार ही क्यों नहीं है?—जो वेदना का भार लिये फिरते हैं, नाना भाव-निधियों को वहन किये हैं, अनेक सरस अनुभूतियों को दबाये हुए हैं, माधुर्य और प्रेम के मधु में सराबोर हो चुके हैं, उदात्त आदर्शों का आलोक देख चुके हैं, निराशा की

तमोमयी गुह्य में रहे हैं, आशा का उदय देखा है; और न जाने क्या-क्या देखा, सुना और सहा है। किन्तु वे गाना चाहते हैं, पर उनके पास स्वरों का साधन नहीं; लिखना चाहते हैं, पर तूलिका मनोभाव का साथ नहीं देती; कह देना चाहते हैं, परन्तु शब्द उनकी अनुभूति को नहीं पकड़ पाते; तवीयत नाच उठने को करती है, पर पद-गति में लय नहीं है; जी चाहता है कि अपनी दिवंगता प्रियतमा की स्मृति में ताज से भी मनोहर महल बना दूँ, परन्तु वह शाहजहाँ का वैभव कहाँ, और न उसकी कला-मर्मज्ञता, और न है समरकन्द, हिरात के कलाकारों का सहयोग। संक्षेप में, कला की सम्भावना के लिये अभिव्यंग्य तत्त्व की भाँति अभिव्यञ्जना के साधन एवं मार्ग भी मिलने चाहिए। जहाँ ये दोनों मिले, कला की सृष्टि हुई। कला के कलेवर में 'सच्ची बात' और 'सीधा प्रकार' दोनों ही अंश आत्मा और शरीर या वागर्थ की भाँति सम्पृक्त रहते हैं।

परन्तु प्रश्न कला की परिभाषा का नहीं है : प्रश्न है कि 'बात' कब और कौन-सी 'सच्ची' होती है, और, किस 'प्रकार' को 'सीधा' प्रकार कह सकते हैं।

(२)

बात सच्ची हो—यह कला-मीमांसा का पहला मूलाधार है। पर सच्ची बात की पहचान क्या है? सच्ची बात कलाकार की सच्ची अनुभूति होनी चाहिए। उसमें बनावट, ढोंग, कृत्रिमता, नाटकीयता न हो। नाटक में मंच पर अपना 'पार्ट' पूरा करने के लिए जब पात्र विरह-वेदना में कृत्रिम रूप में रोता है तो दर्शकों को रोने के बजाय हँसना आता है। कला का सारा प्रयत्न उचित 'प्रभाव' पैदा करने के हेतु अनुभूति को सच्चा बनाने के लिये होता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि 'विरह' को व्यक्त करने के हेतु कवि या कलाकार को जीवन में 'विरह' का अनुभव अवश्य होना चाहिए। हो जाय तो ठीक रहे, किन्तु यदि न हो तो उसमें समवेदना की शक्ति इतनी प्रबल और प्रखर हो कि वह उसे पूर्ण रूप से अपने अन्तर में जगा सके। इस दशा में समवेदना सच्ची होनी चाहिए। स्त्री-विरह में मन की क्या दशा

होती है, इसका सजीव चित्रण अज-विलाप (रघुवंश में), उत्तरराम-चरित, मेघदूत, विरहिणी-वृजाङ्गना (माइकेल मधुसूदन दत्त), ऋग्वेद के उर्वशी सूक्त आदि स्थलों में देखिए। पति-विरह की दशा का वर्णन रति-विलाप (कुमारसम्भव), प्रिय-प्रवास आदि काव्य-भागों में है। यदि विरह की इन अभिव्यक्तियों में कहीं भी कृत्रिमता या ढोंग का पता लगता है तो हमारी रसानुभूति अवश्य ही फीकी पड़ जाती है। कलाकार की कला-साधना का यह भाग है कि वह जन-मन में सहानुभूति के बल से प्रवेश करे, अनुभूति में विस्तार और गाम्भीर्य लाने के लिये भ्रमण करे, जीवन के संघर्षों में, इसकी विविध अभिव्यक्तियों में भाग ले, यहाँ तक कि विश्व की वेदना, विराट् जीवन का श्वासोच्छ्वास, उसकी सम्पूर्ण क्रान्ति और गति, 'अपनी' हो जायें। कलाकार ऐसा करते हैं, यह इसका प्रमाण है कि वे अपनी अनुभूति को यथाशक्ति सच्ची बनाने का प्रयत्न करते हैं।

अधपकी कला में अनुभूति 'किताबी' होती है, अर्थात् शब्दों के द्वारा उत्पन्न। इसका पता काव्य में कवि के द्वारा प्रयुक्त अलंकारों से लग सकता है। उदाहरणार्थ : यदि कोई 'शहरी' कवि 'मुख-पद्म' का प्रयोग करता है, तो उससे पूछा जाय कि क्या उसने 'पद्म' को देखा है, और यदि देखा भी है तो क्या उसने कोई 'मुख' देखा है, वह भी इस आर्थिक संकट और 'बेजी-टेविल घी' के युग में, जो पद्म की सुगन्ध, शोभा, कोमलता, निर्मल कान्ति, शान्त छवि से युक्त हो। एक तो कमल अव रह ही कहाँ गये हैं, और, दूसरे 'कमल-मुखियों' का अव युग कहाँ ? इसका निचोड़ है कि 'मुख-पद्म' का प्रयोग करने वाले कवि की अनुभूति शायद ही सच्ची हो, और, निश्चय ही वह पुरातन कवियों की वाणी का उच्छिष्ट है। अलंकार का प्रयोग भाषा एवं भावों की सज्जा मात्र के लिये नहीं होता—यह कोरा परम्परावाद है—प्रत्युत अलंकार काव्य में भावाभिव्यक्ति का केवल एक मात्र साधन है। इसके पीछे यदि जीवन्त अनुभूति नहीं तो अलंकार निष्प्राण होगा; उसका अलंकारत्व ही नष्ट समझिए। कारण यह है कि कोरा परम्परावाद इस बात का प्रमाण है कि कवि ने परम्परा को ग्रहण कर लिया,

अनुभूति को प्राणवती नहीं बनाया। अतएव केवल अलंकारों में ही नहीं जहाँ कहीं 'लकीर की फ़कीरी' दीख पड़े तो समझिए कि अनुभूति सच्ची नहीं है।

काव्य में ही क्यों, यदि मूर्ति के निर्माण में अव मूर्तिकार बुद्ध जैसी मुद्राओं या मुखभंगिमा को बनावे, चित्रों में अजन्ता के विषयों का दीवारों पर उन्मीलन करे, तो, यदि यह सम्भव हो सके, ऐसा करना केवल परम्परा-वाद होगा, क्योंकि कलाकार ने शायद ही उन उदात्त भावों का अनुभव किया हो। प्रत्येक युग 'अपने' को साकार बनाने के लिये भावों की सामग्री, अभिव्यक्ति के साधन और प्रकार देता है। अतएव युग-निष्ठ कलाकार उस युग का अनुभव करता है। इतिहास कला को अनुकरण करने का आदेश नहीं देता। किन्तु विकास के 'वर्तमान' में सारा 'अतीत' सिमिट कर विद्यमान हो जाता है, और, 'अनागत' का विशाल द्वार खुलता है। कलाकार को इतिहास का यह जीवित रूप अवगत होना चाहिए। वह इसकी धारा में प्राणन करे, अवगाहन करे, आगे-पीछे जाये-आये। किन्तु केवल परम्परा-वाद कला में न केवल जड़ता का द्योतक है, वह अनुभूति की 'झुंठाई' का परिचायक भी है।

(३)

सच्ची अनुभूति की एक पहचान यह है कि वह व्यक्तित्व के गहरे पत्तों में से उगती है। हमारे साधारण जीवन में अनगिन घटनाएँ घटती रहती हैं जिनसे व्यवहार चलता है। वे हमें एक प्रकार से स्पर्श भी नहीं करतीं। उनका महत्त्व इतना ही होता है कि काम चल जाय। वे 'अकस्मात्' सी प्रतीत होती हैं। हम प्रतिदिन कितने बूट-पालिश करने वाले वच्चों को देखते हैं, स्टेशन पर, बाज़ार में, हर जगह। परन्तु एक दिन अकस्मात् एक छोटा-सा गोरा, सुन्दर परन्तु निर्बल वच्चा बूट-पालिश लिये आया और, सब की तरह, "बाबू जी, बूट-पालिश" कह कर बोला। ध्यान गया उसके सुन्दर, सूखे मुख पर, और, उसके हाथ के मैले थैले की ओर जिसमें ब्रश और पालिश रक्खे हैं। उसकी आवाज़ मैं मानो कराह है : वच्चे की आवाज़,

लेकिन इसमें घोर क्रान्ति की दबी हुई गर्जना है। मैंने देखा कि उस चमार कहलाने वाले बच्चे की आँखों में से जैसे कोई ब्राह्मण या क्षत्रिय घूर कर देख रहा है हिन्दू-समाज की अव्यवस्थित व्यवस्था पर, अन्याय पर टिके हुए न्याय पर। अस्तु, इस 'बूट-पालिश' बच्चे को देखने की घटना मर्म को स्पर्श करती है। यह एक 'आकस्मिक' घटना नहीं है, प्रत्युत मन, बुद्धि आदि सभी में गम्भीर, वेदनापूर्ण अनुभूति को जगाती है। वह व्यक्तित्व के कोने-कोने में 'हलचल' मचा देती है; उसकी मूल और आधारभूत मान्यताओं को चुनौती देती है। वस्तुतः यह अनुभूति टिकाऊ, गहरी और सच्ची है। अनुभूति का व्यक्तिगत, भुद्र केन्द्र से दूर होकर समष्टि, व्यापक और गम्भीर होना, इसकी सचाई के लिए प्रमाण है।

कलाकार अपनी अनुभूति को सच्चा बनाने के लिए वैयक्तिक दृष्टिकोण को छोड़कर उसे व्यापक रूप देता है : उसके पक्षपात, आग्रह, झुकाव भी अपनी संकुचित एवं आकस्मिक दृष्टि को छोड़ कर किसी व्यापक भावना या सत्य पर टिके होते हैं। मान लीजिए मोल-तोल पर मेरी किसी व्यक्ति विशेष से लड़ाई हो गयी, या, रिक्शे वाले से पैसे चुकाने के मामले पर। यदि इसको लेकर मैं क्रोध में कविता लिख भी डालूँ तो मुझे ही कुछ दिन बाद कविता पर हँसी आने लगेगी। कारण यह है कि कला 'अपने' लिए होती हुई भी समाज के लिए होती है। जिसे कुछ विचारक 'समात्मभाव' कहते हैं, इसके द्वारा समाज में विचार और भावनाओं का लेन-देन होता है। अनुभव में जो कला का अभिव्यंग्य है उसमें जितनी सचाई होगी वह उतना ही वैयक्तिक होते हुए भी अवैयक्तिक होगा। और, न केवल अवैयक्तिक अनुभूति सच्ची होगी, वह कलात्मक अभिव्यंजना के लिए योग्य और समर्थ भी होगी।

योग्यता और सामर्थ्य का प्रश्न महत्वपूर्ण है, क्योंकि कच्ची अनुभूति पूरी तरह अभिव्यक्त ही न होगी। अनुभूति का परिपाक कैसे हो? एक मार्ग तो ऊपर बताया गया है कि कलाकार के व्यक्तित्व में समष्टि का विकास हो जाय। सीधे शब्दों में, उसके विषाद या प्रसाद, आशा या नैराश्य, सुख-

दुःख आदि भावों में विश्व के, समाज के, जन-जीवन के विषाद-प्रसाद आदि प्रकट हों। यह सम्भव है कि जिस कवि ने 'विरह' या 'निराशा' को जीवन में देखा है वह मानव-वेदना को आत्मसात आसानी से कर सकेगा। किन्तु अपने संकुचित विरह का वर्णन अज-विलाप या रति-विलाप नहीं है। परन्तु अनुभूति के परिपाक का एक दूसरा मार्ग भी है : वह यह कि अनुभूति का उदय वहाँ से हो जहाँ जीवन के विविध और विरोधी तत्त्व समन्वित हो गये हों। जीवन में एकाङ्गिता, वैषम्य, सन्तुलन और समन्वय का अभाव प्रकट करता है कि अनुभूति सच्ची नहीं है; पकी नहीं है, जड़, असमर्थ और अयोग्य है। क्रोध में गाली बकना 'वीर रस' को उत्पन्न नहीं करता, न कामुकता का प्रदर्शन शृङ्गार रस। ये रस जीवन की उस परिपक्व अवस्था में अनुभूत होते हैं जब आदर्शों का मूल्य हम प्राणों से चुकाने को तैयार हो जाते हैं, या, जब जीवन की प्रिय कामना, विश्व को गति देने वाली शक्ति, अनेक विरोध और संकटों का सामना करती हुई, रूप और लावण्य का मधुर दर्शन स्त्री या पुरुष के रूप में पाती है। कला में यों ही हमें 'वीर' या 'शृङ्गार' की अनुभूति होती है, केवल छिछोरेपन में नहीं।

सच्ची अनुभूति में अन्विति आदि गुणों के साथ एक आन्तरिक गति भी रहती है जिसके कारण यह स्वभावतः विकास की ओर चलती है। एक 'विचार' को लीजिए जो किसी समय में चिन्तक की बुद्धि में उदित होता है। वह स्वयं चेतना का एक कण है, किन्तु यदि उसे रोका न जाय, और, विस्तार के लिए अवकाश मिले तो वह निश्चय ही अङ्कुरित और पल्लवित हो उठेगा। केवल चिन्तक ध्यानस्थ होकर उसके रोधक आवरणों को हटाता रहे, अहम्भाव को कम रखे तो वह देखेगा कि वह क्षुद्र 'विचार' विपुल 'प्रकाश' बन गया है। विचार में स्वयमेव पल्लवित होने की प्रवृत्ति रहती है, क्योंकि इसका सम्बन्ध आत्म-ज्योति से है। अनुभूति विचार की अपेक्षा जीवित होती है। वह अपनी सहज शक्ति से विकास की ओर बढ़ेगी, केवल उसका मार्ग न रोका जाय। कलाकार यही करता है। फलतः उसकी अनुभूति

स्वयं अपना कलेवर, अङ्ग-प्रत्यङ्ग गढ़ लेती है, और, उसमें कृत्रिमता की गन्ध तक नहीं होती।

कला में कल्पना का यही सार है। अनुभूति की सत्यता का स्पर्श पाकर कल्पना स्वयं सत्य का सृजन करने लगती है। 'कल्पना' कहते ही न जाने लोगों के मन में क्यों असत्यता का भाव आता है : काल्पनिक का अर्थ ही असत्य, गढ़न्त हुआ ! यह ठीक नहीं, एक तो इस कारण कि कल्पना हमारे मस्तिष्क और बुद्धि की सहज क्रिया है। उसका आविर्भाव एवं विकास कोई 'झूठ' या प्रवञ्चना के लिये तो हुआ नहीं। वह हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्व का सामान्य भाग है। दूसरे, कल्पना के मार्ग से ही अनुभूति का परिपोष होता है। यदि कल्पना अनुभूति के अधीन है तो उसकी सृष्टियाँ न केवल सत्य ही होंगी, साथ ही, प्रिय भी। उदाहरण लीजिए। वन-गमन के अवसर पर कोल-किशोरी सीता जी से बात करती हैं। जो भी बातचीत हुई—वे कवि की कल्पना मात्र है, किन्तु यह कल्पना सन्त-कवि के हृदय के अनुकूल है, और, राम, सीता तथा वन-वधूटियों के सरल स्वभाव के अनुरूप। आधुनिक मनोविज्ञान भी मानता है कि कल्पना अपने कार्य से साधारण संवेदनाओं के गठन को सम्पन्न बना देती है। यदि मूल अनुभूति सत्य है तो कल्पना भी सत्य होगी। अनुभूति की सत्यता कला-विवेचना का 'आदि' है। इसकी 'इति' है 'प्रकार की सरलता'।

(४)

कलात्मक अभिव्यक्ति का प्रकार सीधा एवं सरल होना चाहिए। यह कथन हमें सन्दिग्ध और विचित्र जान पड़ता है क्योंकि हम मान बैठे हैं कि साधारण से भिन्न यदि कलात्मक वाक्य न हुआ तो उसमें क्या चमत्कार? उक्ति में वक्रता होनी ही चाहिए। वस्तुतः यह भ्रान्ति है, जिसका उन्मूलन निम्नाङ्कित से किया जा सकता है।

मान लीजिए मैंने अपने एक प्रिय के निधन का समाचार सुना। इसका प्रभाव मेरे मन पर हुआ। मैं इस प्रभाव को कैसे समझूँ या समझाऊँ? एक प्रकार तो यह हो सकता है कि मैं कहूँ : मेरे हृदय पर इस घटना का 'आघात

गहरा' लगा है। संसार 'सूना'-सा दिखता है। आँखों के आगे 'अँधेरा' छा गया। शेष जीवन कैसे 'कटेगा' ? इत्यादि। दूसरा प्रकार हो सकता है कि मैं इस घटना द्वारा हृदय की तीव्र गति का वर्णन करूँ और बताऊँ कि साधारण (Normal) से हृदय की धड़कन कितनी अधिक हो गयी, और, कितनी देर तक वह बनी रही। फिर 'ब्लड प्रेशर' अर्थात् रुधिर का दबाव, मस्तिष्क के केन्द्रों पर इसका प्रभाव, आँख की इन्द्रिय और नाड़ियों पर इसका परिणाम इत्यादि सभी के विषय में सही नाप-तोल बताऊँ। तभी तो इस दुःखद समाचार का पूरा प्रभाव वर्णन में आ सकेगा। प्रश्न यह है कि दुःख की अनुभूति का सही ही नहीं सजीव वर्णन कैसे प्रस्तुत किया जाय ? ऊपर से प्रतीत होगा कि विज्ञान द्वारा किया हुआ वर्णन विश्लेषण के अनन्तर कुछ 'अङ्क' मात्र रह जायगा। वह वर्णन लम्बा भी होगा, और, प्रभाव-रहित। दुःखद समाचार को सुन कर हृदय पर जो बीतता है उसे 'गहरा आघात' कहना सबसे सरल प्रकार है, साथ ही, सही और प्रभावयुक्त भी। किन्तु 'गहरा', 'आघात', 'सूना', 'अँधेरा छाना', 'जीवन काटना' आदि पद शुद्ध काव्य हैं, और, साथ ही, इस अनुभूति का वर्णन करने के लिये सबसे सरल, सहज और सत्य प्रकार भी।

स्यात्, हम समझते हैं कि वैज्ञानिक अभिव्यक्ति का प्रकार सरल होता है। ऐसा नहीं है, क्योंकि विज्ञान विचार और संकल्पना (Concepts) से काम लेता है। ये सामान्यीकरण (Generalization) से प्राप्त होते हैं, और, इसी कारण बुद्धि की पकड़ में आ जाने पर ये 'खाली' या 'थोथे' रहते हैं। इनमें 'प्रभाव' नहीं रहता। साथ ही, बुद्धि को भी इन्हें 'ग्रहण' करने में क्लेश होता है। संकल्पना में 'ढलते-ढलते' अनुभूति स्वयं इतनी 'पतली' पड़ जाती है कि वह लुप्त हो जाती है, और, शेष रह जाता है कुछ अङ्कों का जोड़-घटाना। इसके विपरीत अनुभूति का चित्रण करने के लिये, उसकी गति, प्रभाव, ओज आदि को शब्दादि माध्यम में गोचर बनाने के लिये आवश्यक होगा कि हम चित्रण को अनुभूति जैसा ही या उसकी निकटतम प्रति-

मूर्ति बनावें। अनुभूति अपनी जीवन्त दशा में अत्यन्त 'सरल' वस्तु है; और, उसकी प्रतिमूर्ति भी सरल होनी चाहिए।

पर्वत के एक शिखर पर खड़े होकर हिमाच्छन्न दृश्य को देखिए, और, वह भी प्रातः के स्वच्छ आकाश में। इस अनुभूति का रेखा और रंगों से या काव्य द्वारा चित्रण कीजिए। सब से सरल प्रकार क्या होगा? हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते, क्योंकि प्रत्येक प्रेक्षक की अनुभूति भिन्न होगी। किन्तु यह निश्चित है कि चित्रण या वर्णन यदि 'प्रभाव युक्त' होना है तो वह अनुभूति के निकटतम होना चाहिए, 'ज्यों-का-त्यों', 'यथावत्', अर्थात् बिना पेच, घुमाव लिये हुए, और, दूसरे शब्दों में, सरलतम। अनुभूति की सरलतम अभिव्यक्ति का नाम ही कला है। पेच या घुमाव देने से अनुभूति झूठी और फीकी पड़ जायगी; सम्भव है कि लुप्त हो जाय। हाँ, शर्त्त यह है कि अनुभूति में बनावट न हो। यदि हिमाच्छन्न गिरिमालाओं पर बालातप के प्रभाव का वर्णन करना है तो उन पर अरुण राग, सुनहरी, रुपहली छायाओं का विस्तार, किरणों के आकाश तक उठते हुए सुनहरे स्रोत आदि का वर्णन करना होगा। आप देखेंगे कि यह वर्णन 'काव्यात्मक' होगा, वैज्ञानिक नहीं।

कलात्मक अनुभूति विज्ञान या बुद्धि या व्यवहार के धरातल पर न होकर 'जीवन' की भूमि पर होती है। और, जीवन जैसा तरल और सरल कोई पदार्थ नहीं। व्यवहार उसे अनेक 'आवश्यकताओं' के भार से दबा देता और छा देता है; बुद्धि एवं अहंकार उसे विभागों में बाँट देते हैं। जीवन सूक्ष्म नहीं है अलावा उस समय के जब विज्ञान इसे संकल्पना द्वारा समझना चाहता है। वह स्थूल, सरल और समीप की वस्तु है। इसकी अनुभूति को ग्रहण करने के लिये, इसके श्वासोच्छ्वास और उन्मेष-निमेष को शब्दों में बाँधने का जब प्रयत्न प्रारम्भ होता है तो वह भी सरल तथा स्थूल होता है। और, तब काव्य में 'अलंकार' कही जाने वाली प्रवृत्ति का उदय होता है। विज्ञान 'स्थूल' को विचार-क्रिया द्वारा 'सूक्ष्म', 'सामान्य' बुद्धि ग्राह्य बना देता है और, कला सूक्ष्म एवं स्थूल को स्थूल, सरल और आस्वाद-योग्य बनाती है।

सूक्ष्म एवं स्थूल को स्थूल और सरस बनाने की विद्या का नाम ही अलंकार है। उदाहरण लीजिए। रसिक नायक अपनी सुन्दरी नायिका का दर्शन करता है : उसके हृदय में प्रेम व आनन्द के स्रोत उमड़े हैं। उसकी आँखें नायिका के रूप का अवगाहन करती हैं; कभी काली अलकों में उलझती हैं, कभी सिन्दूर से रंगे हुए सीमन्त में; कभी आँखों का कजरारापन, कभी नाक की कोमलता, कभी कपोलों की लाली—इत्यादि। प्रश्न यह है कि वह इस 'मधुर' अनुभूति का वर्णन कैसे करे? उसने ऐसा माधुर्य, ऐसी कान्ति, ऐसा तरङ्गायमान लावण्य, कोमलता, जीवन में यौवन का स्फुरण, रूप का ऐसा अद्भुत विन्यास, कहाँ देखा है? निश्चित है कि वह 'सादृश्य' की खोज में निकलेगा, और, कहीं भ्रमरों की पंक्ति में, कहीं अन्धकार के समूह ढेर पर सूर्य की रक्त किरण में, कहीं कमल तो कहीं शरदिन्दु, कहीं विम्ब-फल तो कहीं धनुष के बंक में, इस अनुभूति का निकटतम, शुभ्रतम सादृश्य निकालेगा। और, तब स्वतः ही, अभिव्यक्ति की आवश्यकता के कारण, अनुभूति के अधीन होकर, रस-प्रवण कल्पना द्वारा, वह शतशः अलंकारों का सृजन करेगा। वह वर्णन सरल होगा और काव्यात्मक।

(५)

वैज्ञानिक अभिव्यक्ति की अपेक्षा कलात्मक अभिव्यक्ति सरल, सहज, सत्य एवं सरस होती है। इतिहास और व्यक्ति के विकास-क्रम की कथा इस विचार का समर्थन करती है। 'रस' की अनुभूति 'विज्ञान' से बहुत पहले, आदिम अवस्था में, हुई। हम समझते हैं कि और आगे इसके समर्थन की आवश्यकता नहीं है। किन्तु कलाभिव्यक्ति का प्रकार 'सीधा' होना चाहिए; टेढ़ा, जटिल, घुमावदार होने पर उसका प्रभाव घट जायगा—इसके समर्थन के लिए और भी बहुत-सी बातें हैं। सब से पहले 'माध्यम' का विचार है। कला के लिये शब्द, स्वर, पत्थर, लकड़ी, रंग, रेखा, आदि 'माध्यम' का काम करते हैं। ये वस्तुएँ दूसरे काम में भी आती हैं। इनका 'माध्यम' के रूप में उपयोग उसी अवस्था में कहा जाता है जब ये कलाकार और कृति के मध्य में, और, कृति और रसिक के

मध्य में स्थित होकर चेतना के एक ध्रुव-बिन्दु से भावों का भार लेकर दूसरे चेतना के बिन्दु तक उसे पहुँचा सकें। दूसरे शब्दों में, ये 'माध्यम' उसी दशा में हो सकते हैं जब ये चेतन भावों को ग्रहण, वहन कर सकें, और, ताँवे के तार की भाँति, चेतना-तरङ्गों को इस छोर से उस छोर तक द्रुत गति से ले जा सकें। भावों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप और जीवन के हल्के से हल्के स्पन्दन 'माध्यम' में उतर आयें, और, द्विगुणित होकर एक ध्रुव से दूसरी ओर चल सकें। इसके लिए यह आवश्यक है कि ये माध्यम, ताँवे के तार की भाँति, ही सरल हों, निर्बाध हों, और, ऐसे प्रबल एवं पारदर्शी (Transparent) हों कि उनमें जीवन-विद्युत् का अखण्डित प्रवाह भर सके। माध्यम में यदि जटिलता है, पारदर्शिता की कमी है, जड़ता है, लचीलापन नहीं है, अपनी ही 'ऐंठ' है, प्रभाव को ग्रहण करने की योग्यता नहीं है, तो अभिव्यक्ति सफल न होगी। 'माध्यम' का स्वयं कोई स्वतंत्र ध्येय नहीं है; वह अपने वैभव से अनुभूति का ही वैभव बढ़ावे और, स्वयं उसके अधीन रह कर, अपनी सत्ता को मानो छिपाये जैसे 'साहित्य' के सामने 'अर्दली', उसी के गौरव का विस्तार करे, तब माध्यम में उसके उचित गुण का उदय होता है। यदि माध्यम में अपना आकर्षण स्वयं और रस से स्वतंत्र है तो मानो 'अर्दली' की 'साहब' से भी ज्यादा महिमा है, और, कभी होता भी है कि लोग 'साहब' को छोड़ कर 'अर्दली' के गले में ही माला डाल देते हैं! जिन कला-कृतियों में, विशेषतः काव्य में, शब्दों का आडम्बर भरमार रहता है, वहाँ ऊपर की ही हास्यास्पद स्थिति होती है।

माध्यम के सरल एवं सहज होने के अतिरिक्त, कौशल (Technique) का कला में क्या महत्त्व है? कौशल का अर्थ ही यह है कि थोड़े प्रयत्न से अधिक बात कह सके। इसका विपरीत हुआ—भूँडापन, जिसका अभिप्राय है अधिक प्रयत्न करने पर भी बात का न कह सकना। कलाकारों ने अभिव्यक्ति के लिये कम से कम सामग्री और श्रम द्वारा अधिक से अधिक, प्रभाव उत्पन्न करने को सराहा है। यही कौशल का सार है। इसे हम 'प्रयत्न-लाघव' के द्वारा 'अर्थ-गौरव' की उत्पत्ति कहेंगे। ऐसा न हो कि प्रयत्न का

गौरव हो और अर्थ का लाघव। यह क्या हुआ कि किसी प्रभाव को व्यक्त करने के लिये चित्रकार को सौ बार तूलिका चलानी पड़े, और, फलक या पट पर रंगों की भरमार हो। या, शिल्पी को सौ टाँकी चलाने पर किसी 'भाव' को उभारने में सफलता मिले। प्रयत्न-लाघव के साथ प्रभाव गौरव का सिद्धान्त व्यापक प्रतीत होता है। 'वश्य-वच' कवियों की वाणी में थोड़े से शब्दों में ही अनन्त अर्थ का अक्षय आलोक भरा होता है, और 'हठादाकृष्टानां कतिपय पदानां रचयिता' कवि के शब्दों की झनझनाहट में अर्थ कुछ भी नहीं होता। कच्चे कवि विशेषणों की भी भरमार करते हैं, और, कठोर, हिम-जड़ शब्दावली का उपयोग। काव्य में अलंकार और समास का प्रयोग भी प्रयत्न-लाघव के लिये ही किया जाता है, क्योंकि 'कमल-कोमल', 'शरदभ्र' आदि पदों में बहुत बड़ा अर्थ सिमितकर पिण्डीभूत हो गया है जिसके खोलने में मन की चर्वणा जगेगी। ऐसे काव्य में 'सज्जा' (decorative devices) उतनी ही होगी जितनी इसकी 'शालीनता' को बढ़ाने के लिये पर्याप्त है। कौशल का चकाचौंध कर देने वाला प्रदर्शन कम होगा, और, विधानों की पावन्दी उसी सीमा तक कि काव्य का गला न घुटने लगे। युग-प्रवर्तक काव्य में तो विधानों की अवहेलना भी क्षम्य है। ऐसे काव्यों में तो 'माध्यम' की संज्ञा भी कम से कम हो तो अच्छा रहे, जैसे स्वस्थ शरीर होने पर या उचित और अनुरूप पोशाक पहनने पर, मनुष्य को अपने शरीर में 'हल्कापन'-सा प्रतीत होता है। यह माना कि कलाभिव्यक्ति में प्रयत्न-लाघव कलाकार के बहुत प्रयत्नों और अविरत साधना के बाद सिद्ध होता है। किन्तु यह तो जीवन का ही सिद्धान्त है कि सुख से सुख नहीं मिलता, दुःख से सुख मिलता है। हमें यह मानना होगा कि अभिव्यक्ति को सरल बनाने के लिये कवि को जटिल प्रयत्न करने पड़ते हैं, क्योंकि अभिव्यक्ति की सरलता, सीधापन और एक हृदय से दूसरे हृदय तक प्रभाव का माध्यम के द्वारा अप्रतिहतगति युक्त प्रवाह, ये कला के लिए अनिवार्य हैं।

(६)

निष्कर्ष

इसका निष्कर्ष यही हुआ कि कला के लिए अनुभूति सत्य और अभिव्यक्ति सरल होनी चाहिए—अर्थात् सच्ची बात को सीधे प्रकार से कहना, कला का रहस्य है। और, स्यात्, यही सुन्दर जीवन का भी रहस्य है। हमारी उक्ति इसलिए और भी सही प्रतीत होती है कि वह कला के क्षेत्र में ही नहीं, अपितु सभी क्षेत्रों में लागू होती है।

कला-मीमांसा के लिए ऐतिहासिक दृष्टिकोण

कला के सम्बन्ध में चार ओर से प्रश्न पूछे जा सकते हैं। १. कलाकार के मानस में 'गर्भ' की भाँति पलकर उसकी 'कृति' किसी समय सुन्दर वस्तु के रूप में प्रकट होती है। यह 'वस्तु' भवन, चित्र, मूर्ति, राग, काव्य या कविता का रूप धारण कर सकती है या किसी नृत्य या नाटक का। शिला-खण्ड, काष्ठ, मिट्टी, रंग, रेखा, स्वर, शब्द या अङ्गहार-या कोई भी पार्थिव पदार्थ कलाकार के मनोभावों का स्वरूप ग्रहण कर सकते हैं। कलाकार अपने विलक्षण कौशल से 'पार्थिव' में अपार्थिव भावों का सृजन करता है, जड़ में चेतना का आलोक भरता है, उसमें जीवन का स्पन्दन, गति और उल्लास लाता है। जहाँ लय, मान आदि नहीं हैं वहाँ अपने विन्यास-कौशल द्वारा इन गुणों और प्रभावों को उत्पन्न करता है। कला-सृजन की यह प्रक्रिया विलक्षण है। यह कैसे सम्पन्न होती है? कलाकार के अन्तर में व्यक्त हुआ 'सौन्दर्य' कैसे उदय होता और पलता है? किन विशेष परिस्थितियों में अमूर्त अनुभूति मूर्त और सुखर हो उठती है? 'अरूप' रूप कैसे धारण करता है और क्यों धारण करता है? कलाकार की सृजनात्मक प्रतिभा का क्या स्वरूप है? वह किस शक्ति के द्वारा सौन्दर्य का अवगाहन करता है, और, किस कौशल से उसे व्यक्त करता है? कला-सृजन के लिये कौन-सी प्रेरणा है? संक्षेप में, कला-सृजन मनन के लिये योग्य विषय है और कला-मीमांसा का अंग है।

२. कला-कृति का महत्त्व रसिक और प्रेक्षक के लिए है जो किसी आन्तरिक प्रेरणा से प्रेरित होकर उस 'कृति' के द्वारा सौन्दर्य और रस का अनुभव करता है। इस 'प्रेरणा' का मूल और स्वरूप क्या है? रस की अनुभूति

का विश्लेषण कीजिये और बताइये कि इसमें कौन तत्त्व सम्मिलित हैं? 'रस' कहाँ से आता है? क्या रसिक के अन्तरात्मा से, उसकी प्राकृत प्रवृत्तियों से? या, उसका स्रोत सुन्दर वस्तु का 'सौन्दर्य' गुण है? इत्यादि अनगिन प्रश्न हैं जो रसिक के दृष्टिकोण से उपस्थित होते हैं।

३. सौन्दर्य गुण स्वयं क्या है? शिलाखण्ड में भावों की अभिव्यक्ति, जैसे किसी पत्थर की मूर्ति में विजय, उल्लास, समर्पण, निराशा, प्रेम, आह्लाद आदि का साक्षात्कार, यह कैसे सम्भव हुआ? रूप और विन्यास का क्या अर्थ है? विन्यास से उत्पन्न होने वाले संगति, आरोह-अवरोह, समानुपात, सन्तुलन आदि अनेक गुण हैं। इनका क्या अर्थ और प्रयोजन है, और, सौन्दर्य की अनुभूति उत्पन्न करने में इनका क्या कार्य और स्थान है? रूप, शोभा, कान्ति, लावण्य—ये सौन्दर्य की विशिष्ट दशाएँ हैं। इस विशिष्टता का क्या स्वरूप है? अंग और अंगी में क्या सम्बन्ध रहता है? सम्पूर्णता, अन्विति, औचित्य इत्यादि से क्या अभिप्राय है? ये प्रश्न कला-मीमांसा के लिये महत्त्वपूर्ण हैं।

४. परन्तु ऊपर दिये गये तीनों दृष्टिकोण महत्त्वपूर्ण होते हुए भी संकुचित हैं क्योंकि वे कला-सृजन, रसास्वादन और कृति को केवल 'व्यक्तिगत' घटना समझते हैं। कलाकार जिस अनुभूति को पार्थिव माध्यम के द्वारा सौन्दर्य का वैभव और प्रभाव प्रदान करता है, उस अनुभूति का सम्बन्ध कलाकार के व्यक्तित्व से तो है ही, साथ ही, वह देश-काल-परिस्थितियों की भी उपज है। कलाकार का स्वयं व्यक्तित्व इनके द्वारा पूर्ण और परिपक्व हुआ है। कलाकार अपने संवेदन-शील स्वभाव, प्रखर चेतना और सृजनोन्मुखी प्रतिभा के बल से जन-जीवन के तल में लहराती हुई युग-चेतना तक पहुँचता है, और, अपने व्यक्तित्व की गहराइयों में उसको पलने देता है। वह समाज और जीवन की दैनिक घटनाओं के ऊपरी रूप को न देखकर उनके मेल में अन्तर्हित चेतन और अर्द्ध-चेतन शक्तियों के क्रीड़ा-विलास को अपनी पैनी आँखों से देखता है। वह इतिहास के उस अन्तराल में प्रवेश करता है जहाँ अनादि और अनन्त चेतना और जीवन-शक्ति घटनात्मक

इतिहास' का सृजन करती हुई विकास और विनाश, उत्थान और पतन, विस्तार और संकोच, जय और पराजय, शान्ति और युद्ध, निर्माण और ध्वंस, की पद-गति से रुझान करती हुई, श्वासोच्छ्वास भरती हुई, सदैव अज्ञात की ओर बढ़ती चली जाती है। कलाकार इतिहास के इस महाप्राण के साथ श्वास लेता है, और, विश्व-चेतना को अपनी चेतना बना लेता है। वस्तुतः कला-सृजन की घटना, जैसे ताजमहल का निर्माण, रामायण की रचना या मूर्ति, चित्र, राग या नृत्य आदि के आविष्कार, इत्यादि इतिहास की महत्त्वपूर्ण घटना है। कलाकार की दृष्टि से भी कला का विवेचन इतिहास के इस अंग को स्पष्ट जाने बिना सम्भव नहीं है। अनेक कलाओं द्वारा अभिव्यक्त भाव और अनुभूतियाँ इतिहास के अनन्त प्रवाह में रख कर ही समझी जा सकती हैं।

रसिक की अभिरुचि, उसका पर्याप्त मानसिक विकास, बौद्धिक क्षमता आदि सौन्दर्य के अवगाहन और हृदयंगम करने के लिये आवश्यक हैं। संस्कृति, शिक्षा, धार्मिक और नैतिक विश्वास तथा निष्ठाएँ, सामाजिक विकास का स्तर, यहाँ तक कि राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था—इन सबका प्रभाव रसिक में अभिरुचि उत्पन्न करने में हाथ रखता है। न केवल रसानुभूति की क्षमता इनके प्रभाव पर निर्भर है, अपितु इस अनुभूति का स्वरूप भी। तभी तो मध्यकालीन धार्मिक कला-कृतियाँ आज निष्प्रभाव जान पड़ती हैं और उनका पुनः सृजन अब असम्भव है जब तक कि इतिहास की स्वयं गति ही न बदल जाय। रसानुभूति की क्षमता और अभिरुचि इतिहास के साथ चलती हैं। रसिक का 'मन' इतिहास की सृष्टि है। इसलिए रस-मीमांसा के लिये इतिहास की चेतन और अचेतन शक्तियों को समझना आवश्यक है।

इतिहास कलाकार को प्रेरणा और भावों की सामग्री ही नहीं देता, वह उसे अभिव्यक्ति के लिये उपकरण, अवसर, मार्ग और साधन भी प्रदान करता है। किसी युग की सभ्यता कला को अपना सम्पूर्ण वैभव, कौशल का विकास, राजनीति के द्वारा सुरक्षा, सम्पन्न समाज का संरक्षण, जनता की

रुचि, खनिजों और विविध यंत्रों का संग्रह, शिल्पों का विकास, विक्री के लिये बाजार भी, न जाने कितने साधन—उपलब्ध करती है। वास्तव में, कला की किसी भी विशेष कृति में, जैसे ताजमहल, अनेक देशों और अनेक युगों का इतिहास सिमट कर अभिव्यक्त हो उठता है। इतिहास के धागे में कला-कृतियाँ “सूत्रे मणिगणा इव” पिरोई हुई हैं। कला-मीमांसा के लिए ऐतिहासिक दृष्टिकोण वाञ्छनीय ही नहीं, अनिवार्य भी है।

(२)

इतिहास के विकास-क्रम में कला का उदय कब और किन परिस्थितियों में हुआ? इस प्रश्न का महत्त्व कई गुना है। एक, ऐतिहासिक विकास के कई पार्श्व होते हैं, जैसे धर्म, नीति, समाज, संस्कृति, सभ्यता, विज्ञान, कौशल, उद्योग, राजनीति आदि। यदि हम निश्चित कर सकें कि ‘कला’ का आविर्भाव विकास-क्रम में किस देशकाल में हुआ तो हम इन पार्श्वों के साथ इसका सम्बन्ध निरूपित कर सकते हैं। कला ने इनको क्या प्रेरणा दी और इनसे क्या ग्रहण किया तथा किस प्रकार अपनी स्वाभाविक सामर्थ्य से इनको प्रभावित किया? इत्यादि प्रश्नों के उत्तर से इनका परस्पर स्वरूप स्पष्ट होता है, कला के ऐतिहासिक कर्तव्य और प्रभाव का परिचय मिलता है तथा भावी विकास की योजना के लिये दिशा का दर्शन होता है। दो, कला के आविर्भाव के देशकाल को समझ लेने से हम रसानुभूति के मूल-स्वरूप का उद्घाटन कर सकते हैं, और, इस अनुभूति में कौन-कौन तत्त्व विकास-क्रम में, और, क्यों घुलमिल गये हैं, ऐसे कि आज उनको अलग करना कठिन है—यह भी जाना जा सकता है। तीन, जिस मूल-प्रवृत्ति से कला का जन्म हुआ आज उसकी क्या अवस्था है? क्या उसके परिष्कार, पुष्टि और अभिव्यक्ति के लिये पर्याप्त अवसर मिल रहा है? क्या इसके दमन से भयंकर परिणाम हो सकता है? यदि हाँ, तो हमें सौन्दर्य की अभिरुचि के लिए संस्कार, और, इसकी तुष्टि और पुष्टि के लिए उचित मार्गों की आवश्यकता है। चार, प्रत्येक देश और जाति ने अनेक युगों में अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा और सामर्थ्य से, वैभव और शक्ति से, स्वकीय अनुभूतियों को कला-

त्मक अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न किया है। तभी तो कला की असंख्य अभिव्यक्तियों में इतनी विचित्रता है। कला के स्तर पर सुदूर संस्कृतियों में, व्यापार की भाँति ही, आदान-प्रदान भी हुआ। 'सौन्दर्य' में इन विविध तत्त्वों का मिश्रण एक रोचक विषय तो है ही, साथ ही यह कला के स्वरूप को स्पष्ट करने में भी सहायक होता है। पाँच, प्रारम्भ से ही कला का एक कार्य मनोविनोद रहा है, यद्यपि इसके गम्भीर उद्देश्यों को भी स्वीकार किया गया है, जैसे आध्यात्मिक शान्ति का अनुभव, रुचि का विकास आदि। परन्तु रसास्वादन द्वारा मन का विनोद इसका व्यापक उद्देश्य प्रतीत होता है। विनोद की सबसे प्रथम और बड़ी आवश्यकता है—बन्धनों से मुक्ति। यद्यपि धर्म और नीति इस विनोद की प्रवृत्ति को मर्यादित और संस्कृत करने का सतत प्रयत्न करते आये हैं, परन्तु विनोद की आवश्यकता इसे मुक्त अन्तराल देने के प्रयत्न में लगी रही है। इसका अर्थ है कि सौन्दर्य के सृजन और रस के आस्वादन में जन-रुचि की सर्वाधिक अभिव्यक्ति होती है। इसलिए कला किसी युग और देश के सांस्कृतिक विकास को नापने के लिये उत्तम मानदण्ड है।

संगति और सन्तुलन, लयात्मक आरोह-अवरोह तथा अंगों का समानुपातिक विन्यास आदि सौन्दर्य के ऐसे गुण हैं कि ये प्रत्येक व्यवस्था और निर्माण में व्याप्त रहते हैं। ये हमारे दैनिक स्वभाव और रुचि के अंग बन गये हैं। सौन्दर्य की इस व्यापकता के बल पर हम अनुमान करते हैं कि कला का उदय मनुष्य की 'आदिम' अवस्था में उसके स्वभाव की किसी मूल-प्रवृत्ति से हुआ। यह विनोद, क्रीड़ा-विलास, निर्माण और आत्माभिव्यक्ति, अनुकरण आदि किसी भी एक या कई प्रवृत्तियों से मिल कर उदित हो सकती है। 'आदिम' का नाम लेते ही हम किसी घृणित और भयंकर अवस्था की कल्पना करने लगते हैं। इतिहास जो कहे, कला की दृष्टि से आदिम अवस्था ही अनुभूति के लिये, और, इसके द्वारा सौन्दर्य-सृजन के लिये उन्मुक्त और उर्वर अवकाश प्रदान करती है। आज भी आदिम कला में हम ओज और गति का अनुभव करते हैं; इसका मूल कारण उसका स्वच्छन्द

वातावरण ही है जो संस्कृति, धर्म और नीति की सीमाओं को स्वीकार नहीं करता।

कला और धर्म में से कौन पहले आया—स्यात्, इसका निर्णय न हो सके। सम्भवतः ये दोनों 'आदिम' अवस्था में कुछ अन्तर से प्रकट हुए, कला सौन्दर्य, रूप-सम्पदा को लेकर उन्मुक्त विनोद में इठलाती हुई, और, धर्म-मर्यादा और विधि-निषेध का यम-दण्ड हाथ में लिये अकड़ता हुआ। स्यात्, अपने शिशु काल में ही धर्म ने कला को वरण किया, क्योंकि आदि काल से आज तक असंख्य मन्दिर, स्तूप, मस्जिद, गिर्जों के रूप में, चित्रकारी, संगीत, नृत्य और साहित्य के रूप में, इन दोनों के परिणय से ये सृष्टियाँ होती रही हैं। धर्म कला के आकर्षक गुणों के बिना स्यात् नीरस और निर्जीव होकर अब तक मिट गया होता। धर्म ने कला को गौरव प्रदान किया, और, कला ने धर्म को अपना सौन्दर्य और अभिव्यक्ति के लिए साधन।

इसका यह तात्पर्य नहीं कि कला ने धर्म की मर्यादा और दमन-दण्ड को सदैव स्वीकार किया हो। कला ने, आज के स्त्री-आन्दोलन से भी पूर्व, अपनी स्वतंत्रता की रक्षा की, और, धार्मिक क्षेत्र से बाहर भी केवल स्वच्छन्द हास-विलास, मनोविनोद, निर्वन्ध रस-क्रीड़ा और उन्मुक्त आत्माभिव्यक्ति के क्षेत्रों में अपने सौन्दर्य से जन-मन को आप्लावित किया है। यह राज-प्रासादों में रही है, और, इसने राज-शक्ति का उपभोग किया है। धनिकों का वह वैभव इसे पसन्द है जो संगीत, स्थापत्य, चित्र आदि के रूप में इसे अभिव्यक्ति के लिए साधन और अवसर प्रदान करता है। परन्तु इसे प्रतिभावान् दरिद्र भी अप्रिय नहीं है। लोक-गीतों और लोक-नृत्यों में, प्रत्येक जन-पर्व पर, पढ़े और बे पढ़े, मूर्ख और विद्वान्, धनी और निर्धन, सभी के लिये कला अपना विलक्षण सौन्दर्य प्रस्तुत करती है। युगों के इतिहास में कला का यह जन-मन-रंजन कार्य महत्त्व रखता है।

ऐसा नहीं है कि धर्म ने केवल मर्यादा ही कला को प्रदान की हो। जिन युगों में धर्म जन-जीवन का केन्द्र रहा, तब इसने कलाभिव्यक्ति के लिये

प्रबल प्रेरणा इसे दी। सारी जन-शक्ति और राज-शक्ति ने मिलकर चट्टानों को खोदकर गुफाएँ बनाई; सदियों के अथक प्रयत्नों द्वारा चित्रण किया; नूतन संगीतों और साहित्यों का निर्माण हुआ। परन्तु धर्म ने इससे भी अधिक किया; कला का कलेवर 'रूप' और 'भोग' से निष्पन्न होता है। 'भोग' से हमारा तात्पर्य पार्थिव माध्यम से है जिसमें कलाकार 'विन्यास' के द्वारा 'रूप' का आविष्कार करता है। रूप और भोग द्वारा घटित कला का शरीर जब तक किसी मनोभाव या आध्यात्मिक अनुभूति को अभिव्यक्त नहीं करता तब तक वह प्राणहीन, स्पन्दनरहित, निरात्म-सा रहता है। कला को जन-जीवन से हर्ष, विषाद, गर्व, प्रीति, विनोद आदि असंख्य 'भाव' अभिव्यक्ति के लिये मिले, किन्तु धर्म ने इसे अध्यात्मलोक की अखिल ज्योति, गम्भीर अनुभूति और अचिन्त्य भावों का प्रसाद प्रदान किये; जिससे इसे गाम्भीर्य, गौरव, पवित्रता, सनातन, अजर और अमर जीवन का लाभ हुआ। केवल बुद्ध धर्म को ही लीजिए। बुद्ध के त्याग और वैराग्य, निर्मल ज्ञान और आत्म-विजय, करुणा और निर्वाण की अनुभूति, आदि उदात्त आध्यात्मिक भावों ने अनेकों देशों की कला में उस महा-प्राण और अनन्त आलोक का संचार किया है कि आज तक कला की वे अभिव्यक्तियाँ उनके द्वारा प्राणन कर रही हैं। इसी प्रकार जैन, हिन्दू, इस्लाम और ईसाई आदि धर्मों ने कला को अपनी 'आत्मा' समर्पित की, और, कला ने उस 'आत्मा' की ज्योति को, उसके जीवन, रहस्य, अनन्त और अजर प्रसाद को अनगिन निर्माणों द्वारा यूरोप, एशिया, अफ्रीका के देशों में बखेर दिया।

कला और धर्म का यह सम्बन्ध चिर काल से चला आया है, और, आज शिथिल होने पर भी टूटा नहीं है। इस ऐतिहासिक सम्बन्ध को स्पष्ट किये बिना इन दोनों का स्वरूप-निरूपण पूरा नहीं हो सकता।

(३)

धर्म ने जब अपने क्षेत्र और मर्यादा को लाँघना शुरू किया, तो विज्ञान ने उसे टोका और रोका। इतना ही नहीं, विश्व और जीवन को समझने के लिए विज्ञान ने एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया, नये विधान बनाये,

धर्म की मान्यताओं में सन्देह उत्पन्न कर दिया, उसके क्षेत्र को 'व्यक्ति' तक सीमित किया, और, अन्त में गवेषणा और प्रमाण के नूतन और प्रबल बौद्धिक मार्गों और यंत्रों का आविष्कार किया। विज्ञान 'सत्य' की खोज में निकला। धर्म ने विश्व के जिस 'मंगलमय' रूप को प्रस्तुत किया था, विज्ञान ने उसे अप्रमाणित, विश्वास के अयोग्य, पारलौकिक सिद्ध किया। इतना ही नहीं, विज्ञान ने नीति को भी अनावश्यक नियमों का जाल घोषित किया। हम यहाँ विज्ञान के इन प्रयत्नों की सफलता या प्रामाणिकता पर विचार न करेंगे। परन्तु विज्ञान का उदय, वह भी धर्म के अनन्तर, एक ऐतिहासिक घटना है। इसने 'मंगल' के स्वरूप और आधार को बदला, और, 'सत्य' और 'मंगल' में सामञ्जस्य उत्पन्न किया—"सत्य ही मंगल है", यह विज्ञान का सिंहनाद है।

कला पर विज्ञान के आविर्भाव का क्या प्रभाव हुआ? एक, धर्म के शिथिल और सीमित हो जाने पर कला ने इसका साथ छोड़ दिया। दो, विज्ञान ने कला से कहा कि यदि तुम्हारा सौन्दर्य सत्य और यथार्थ नहीं है तो तुम्हारा भी धर्म की भाँति तिरस्कार होगा, और तुम्हें जीवन के लिये अवकाश ही न मिलेगा। और, यदि तुम 'यथार्थ' में विचरोगी तो विज्ञान तुम्हें अपने सारे साधन अभिव्यक्ति के लिये प्रदान करेगा। कला ने इस कथन पर विज्ञान को वरण किया, और, अपने विकास और विस्तार के लिये इसी पृथ्वी पर, इसी लोक और इसी जीवन में, यहाँ और अभी होने वाली घटनाओं में, पर्याप्त अवकाश प्राप्त किया। तीन, इससे भी बढ़ कर, विज्ञान ने अपनी सम्पूर्ण ज्ञान-सम्पदा और आविष्कारों के साधन कला को सौंप दिये, और, कला ने भी विज्ञान के माध्यम से अपने वैभव का सभी देशों में थोड़े ही काल में अभूतपूर्व विस्तार किया। चार, विज्ञान का सभ्यता के विकास पर बहुत प्रभाव पड़ा। यातायात के साधन, परस्पर सम्पर्क के अवसर इतने फैले कि देश, राष्ट्र, जाति, वर्ण और धर्म आदि के बन्धन ढीले पड़ने लगे, सीमाएँ गलने लगीं, और, 'मानवता' का एक अद्भुत रूप चमक उठा। यह निस्सीम और उपाधिहीन 'मानवता' विज्ञान की देन है। कला इस पर

रीझ उठी है, और, एक ओर कला ने मानवता को सौन्दर्य प्रदान किया है तो मानवता ने अपना आलोक, आत्मा, गरिमा और गाम्भीर्य आदि देकर इसकी अभिव्यक्ति को उदात्त बना दिया है। धर्म का साथ छोड़ने से कला के अवसरों और गौरव में कोई कमी नहीं हुई। पाँच, विज्ञान के प्रभाव को केवल 'बौद्धिक' ही समझना ठीक नहीं। विज्ञान ने आवेग और भावना के उन द्वारों को टक्कर लगा कर खोल दिया है जो ब्रिती हुई धर्म-प्रधान सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था में युगों तक बन्द पड़े रहे। स्वतंत्रता, समानता, राष्ट्रीयता, और, अन्ततः विश्व-बन्धुत्व और अन्तर्राष्ट्रीयता, केवल 'विचार' ही नहीं है, अपितु ये भावनाओं से भरे विस्फोटक द्रव्य हैं जिन्होंने व्यक्तिगत और जन-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में और सभी स्तरों पर क्रान्तियाँ उत्पन्न कर दी हैं। कला के लिये आज क्षितिजों ने अपनी सीमाएँ खोल दी हैं। छः, जिस प्रकार धर्म ने 'दिव्य' भावना से कला को प्राणित किया था, उसी प्रकार 'मानवता' आज कला का प्राण है, और, 'दिव्य-मंगल' से भी अनोखे न्याय पर आश्रित 'मानव-मंगल' हमारे सामने है। सात, विज्ञान ने आविष्कार और गवेषणा को अग्रसर किया है। कला के क्षेत्र में इसका प्रभाव यह हुआ है कि अनेक दिशाओं से 'सौन्दर्य' और 'रसानुभूति' को समझने के लिये प्रयत्न उठ खड़े हुए हैं। समीक्षा के लिये नये मानदंड, रुचि-विश्लेषण के लिये नूतन दृष्टिकोण स्पष्ट होने लगे हैं। फलतः कला में नित नये 'रूपों' का प्रयोग हो रहा है, इसके विभिन्न अंगों का उद्घाटन और पुष्टीकरण चल रहा है। कला-सृजन के लिये इतना महान्, विविध और निश्चित प्रयत्न जितना युगों में नहीं हुआ उतना पिछले थोड़े काल में हुआ है।

इस प्रकार विज्ञान ने कला को अभिव्यक्ति के लिये उपकरण, विस्तार के लिये दिशाएँ, प्रयोग के लिये क्षेत्र, नवीन रूपों के विकास के लिये आवश्यक साहस और स्वतंत्रता, अभिव्यक्त करने के लिये मानवता और मंगल की भावना, आदि देकर नये युग का द्वार खोल दिया है। कला के पार्श्व और आभ्यन्तर विज्ञान के इस ऐतिहासिक प्रभाव को न जाने हुए विशद नहीं किया जा सकता।

(४)

इतिहास में संस्कृति, सभ्यता और नीति, तीन ऐसी शक्तियाँ हैं जिनका कार्य समाज की प्रत्येक व्यवस्था, और, रुचि तथा भावों की प्रत्येक अभिव्यक्ति के स्तर को उत्तरोत्तर ऊँचा उठाना रहा है। कला का शुद्ध स्वभाव 'भोग', 'रूप' और 'अभिव्यक्ति' के माध्यम से गोचर मूर्तियों का सृजन और आस्वादन है। यह सृजन और आस्वादन, ऊँचे और नीचे, कई स्तरों पर सम्भव है। ये तीनों शक्तियाँ संस्कृत और असंस्कृत, सभ्य और असभ्य तथा नैतिक और अनैतिक का भेद उपस्थित करती हैं, और, प्रत्येक कृति, अभिव्यक्ति तथा निर्मिति के लिये मानदण्डों का आविष्कार करती हैं। कला का अपना मानदण्ड केवल एक ही है : सुन्दर और असुन्दर का भेद। यह भेद केवल 'भोग' अथवा 'माध्यम', रूप-विन्यास और अभिव्यक्ति के प्रकार पर निर्भर है। परन्तु कला समाज में पलती है जहाँ संस्कृति आदि दूसरे प्रभाव रहते हैं। फलतः एक ओर कला अपनी स्वतंत्र सत्ता के लिये अपने मान और मूल्य का बल पकड़े अग्रसर होती रही है और दूसरी ओर समाज अपनी रुचि के मान और मूल्यों को कला के ऊपर लादता रहा है। इतिहास में ऐसे युग मिलेंगे जब एक या दूसरी शक्ति की विजय रही। कला की सबसे उत्कृष्ट सृष्टियाँ उस काल में हुई हैं जब दोनों ओर से सामञ्जस्य सम्भव हो सका। प्रत्येक युग की कला के अध्ययन में हमें यह जानना आवश्यक है कि वह अपने स्वकीय रूप और मूल्यों को, अन्य मूल्यों का निर्धारण करने वाली शक्तियों के विरुद्ध, कहाँ तक अपना सकी है और वे 'बाह्य' और 'अतिरिक्त' मूल्य सौन्दर्य के मूल्यांकन में किस सीमा तक प्रविष्ट हो गये हैं।

सच पूछिये तो मूल्यों में परस्पर विरोध नहीं है। केवल उस दशा को छोड़ कर जब एक दूसरे को दबा देता है, अपने स्वाभाविक सामञ्जस्य की स्थिति में एक मूल्य दूसरे के गुण-प्रभाव को बढ़ाता ही है। संस्कृति को लीजिए : इसका अर्थ है हमारी रुचियों का संस्कार। संस्कृत रुचि का प्रभाव सौन्दर्य को भी संस्कृत बनाता है, और, सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिये नये

मार्ग और उपकरण, विन्यास के लिये नूतन विधान आदि अपनाने के लिये कलाकार को प्रेरित करता है। हमें संस्कृति की पूरी मीमांसा करना यहाँ इष्ट नहीं है; परन्तु हम इतना सामान्यतया मानते हैं कि संस्कृति के द्वारा एक ओर रुचि और मूल प्रवृत्तियों का परिष्कार और परिमार्जन होता है, दूसरी ओर मानसिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों का विकास। यह विकास कला-सृजन और रसास्वादन के लिये नयी शक्ति, नये अन्तराल और नयी स्फूर्ति प्रदान करता है। कला के स्वरूप का उत्तरोत्तर निखार संस्कृति के प्रभाव द्वारा ही सम्भव हुआ है। दूसरी ओर, सौन्दर्य में संगति, सामञ्जस्य, सन्तुलन आदि गुण रहते हैं जिनके प्रभाव से कलात्मक अभिरुचि स्वयं 'संस्कृति' के स्तर को उन्नत और परिष्कृत करने में सहायक होती है। ज्यों-ज्यों सौन्दर्य के इन गुणों का प्रभाव प्रखर होता है त्यों-त्यों केवल संस्कृति ही नहीं; विज्ञान, धर्म, दर्शन, साहित्य तथा समाज के सभी पार्श्वों में और स्तरों में यह प्रभाव व्यापक होता चला जाता है। विज्ञान आदि की किसी भी उत्कृष्ट कृति में सौन्दर्य पुष्प में गन्ध की भाँति समाया रहता है। वस्तुतः कला और संस्कृति का मेल और अन्योन्य उपकारक सम्बन्ध मौलिक और परस्पर पूरक प्रतीत होता है।

सभ्यता और नीति के साथ भी कला का वही सम्बन्ध है। सीमित अर्थ में सभ्यता परिस्थिति के अनुकूल, संयत, जन-स्वीकृत, उचित सामाजिक व्यवहार का नाम है। सौन्दर्य की अभिव्यक्ति सामान्यतः इन नियमों का उल्लंघन नहीं करती अर्थात् असभ्य नहीं होती। सभ्यता भी सौन्दर्य की अभिरुचि का मान करती है; इसके विकास के लिये अवसर और उपकरण प्रदान करती है। नीति मनुष्य के लिये उसके आचरण में 'कल्याण' का मार्ग और आदर्श उपस्थित करती है। क्या 'सुन्दर' से अकल्याण हो सकता है? क्या मनुष्य कला के सृजन और आस्वादन में अनुचित साधनों, विधाओं और आदर्शों को अपना सकता है? इस प्रश्न का पूरा उत्तर तो यहाँ सम्भव नहीं, पर इतिहास साक्षी है कि कला और नीति के आदर्शों में, कुछ युगों में, अवश्य संघर्ष रहा है। मनुष्य की पूर्ण प्रकृति को समक्ष रखकर तो हम यही कह सकते

हैं कि 'अनुचित सौन्दर्य' और 'असुन्दर कल्याण' दोनों अस्थायी अवस्थाएँ हो सकती हैं, परन्तु विकास का अग्रगामी पद सौन्दर्य और कल्याण का अवश्य ही कहीं और कभी सामञ्जस्य करा देगा।

(५)

हमने कला और इतिहास के सम्बन्ध का निरूपण किया, और, इतिहास की उन शक्तियों और प्रभावों का निरीक्षण किया जिनके द्वारा वह आगे बढ़ता है। कला इतिहास का स्वयं एक शक्तिशाली प्रभाव है। यह प्रभाव आदिम जीवन की आवश्यकताओं में उदय होता है, तथा निर्माण, विनोद, अभिव्यक्ति की मूल प्रवृत्तियों पर आश्रित होने के कारण व्यापक और अजर है। आदिम जीवन समाप्त हुआ, परन्तु कला जीवित है। धर्म ने अपनी आत्मा, वैभव, शक्ति और स्फूर्ति कला को प्रदान किये; कला ने विनियम में इसे सौन्दर्य और रस का वरदान दिया। धर्म ने सौन्दर्य को गौरव दिया, और, सौन्दर्य ने धर्म को प्रबल आकर्षण। धर्म का प्रभाव आज परिस्थिति-वश शिथिल है, परन्तु कला-सृजन का क्षेत्र विस्तृत हो रहा है। स्वयम्भरा कला ने विज्ञान को वरण किया, और, विज्ञान ने अपनी सम्पूर्ण विभूति इसे सौंप दी। विज्ञान ने चाहा कि कला यथार्थ और प्रमाण के बन्धनों में बँधी रहे। परन्तु हुआ यह कि विज्ञान स्वयं अपने विकास के क्रम से 'यथार्थ' के सीमान्त पर पहुँच गया, और, प्रमाणों के द्वारा ऐसे 'रहस्य' से जा टकराया जिसकी सिद्धि इनके द्वारा सम्भव नहीं। कला विज्ञान के द्वारा निर्धारित 'यथार्थ' की सीमाओं में बहुत काल तक विचरी; किन्तु जब विज्ञान स्वयं 'रहस्य' के धूमावृत देश में पहुँच गया तब तो कला को नूतन स्फूर्ति मिली। जिस क्षण विज्ञान ने 'सम्भावनाओं' को स्वीकार किया, कलाकार की कल्पना ने भी उड़ान के लिए पंखें खोल दीं। ज्ञान के अभूतपूर्व विस्तार ने कल्पना के लिए अनन्त अन्तराल खोल दिये, और कला-सृजन के लिए असंख्य अवसर।

दूसरी ओर जीवन का भी विस्तार हुआ। आकाश और समुद्र, पर्वत, नदी, भूगर्भ, नक्षत्र-मण्डल, संक्षेप में, प्रकृति के सूक्ष्मतम, दूरतम और

विशालतम पहलुओं का उद्घाटन हुआ। शक्तिशाली यंत्रों ने अनेक गुप्त रहस्यों को स्पष्ट किया, किन्तु साथ ही अनन्त प्रश्नों को उत्पन्न कर दिया। इधर व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन के गम्भीर तलों को विज्ञान ने उधाड़ा। मानवता का एक अद्भुत और निरुपाधिक स्वरूप प्रस्तुत किया; रूढ़िगत मान्यताओं को नष्ट कर नूतन युगानुरूप विचारों को स्पष्ट किया। जो हम अपने सीमित देश, समाज, यहाँ तक कि संसार के विषय में सोचने के लिये चिर अभ्यस्त हो गये थे, वे आज हम विज्ञान के विकास-क्रम से ही निस्सीम देश और काल के प्रवाह में अपने को देखते हैं। संक्षेप में, विज्ञान ने जीवन के रहस्यों को बढ़ा दिया है, और, आज हम आदिम मनुष्य की भाँति अपने को अचिन्त्य भावों से घिरा पाते हैं। प्रश्न यह है कि इस परिस्थिति में कला की क्या दिशा होगी और क्या दशा ?

कला का प्रधान साधन कल्पना है। कल्पना 'यथार्थ' पर बहुत दिन नहीं टिक सकती। उसे प्रकाश नहीं, धूम, समीप नहीं, दूर, अधिक अनुकूल बैठता है। सम्भव है कला, वैज्ञानिक विकास का अनुसरण करती हुई रहस्यों के धूमावृत लोक में चली जाय; कलाकार और रसिक के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन से दूर जाकर 'रस' का सृजन करने के बजाय केवल 'आश्चर्य' का सृजन करने लगे। यह इस समय कला की प्रगति है। परन्तु इसमें भय है कि रस और सौन्दर्य का मानव-स्रोत कहीं तिरोहित न हो जाय। आध्यात्मिक भावों और हृदय की भावनाओं का स्थान कहीं विज्ञान की सम-स्याएँ न ग्रहण कर लें। स्यात्, इस प्रकार विज्ञान कला का जीवनान्त न कर दे। परन्तु आशा यही है कि विज्ञान, धर्म की ही भाँति, स्वयं अपने चरमान्त पर पहुँच कर नष्ट हो जाय और, मनुष्य जीवित रहे। और, जीवित रह जाय कला भी।

: १० :

भारतीय सौन्दर्य-शास्त्र और आधुनिक कला

भारतीय सौन्दर्य शास्त्र की अपनी परम्परा और मान्यताएँ हैं, जिनका इस भूमि और इसके इतिहास से सम्बन्ध है। 'आधुनिक' कही जाने वाली 'कला' पाश्चात्य परम्परा और इतिहास की उपज है। दोनों में अभी बीच है, और, पूर्व तथा पश्चिम की राजनीति की भाँति ही, कलात्मक अभिव्यक्ति के क्षेत्र में भी अभी सामञ्जस्य का अभाव और संघर्ष का प्राधान्य है। पश्चिम से विचारों के 'आयात' द्वारा हम अपनी आवश्यकताएँ पूरी कर सकते हैं, परन्तु विकास का सही मार्ग इस भूमि से ही, नवीन परिस्थितियों के माध्यम में, पूर्व परम्पराओं का अग्रसर करना है। इस प्रकार एक नवीन विश्व-संस्कृति का उदय हो सकता है जो साथ ही भारतीय भी होगी। कला संस्कृति के प्रवाह की एक धारा है और सौन्दर्य-चेतना समष्टि-चेतना की एक चिनगारी है। अतएव एक को दूसरे से पृथक् करना न स्वाभाविक है न सम्भव।

सौन्दर्य-सम्बन्धी इस देश की विचार-व्यवस्था में निम्नांकित मूल तत्त्व हैं—

रस—हमारे जीवन की मूल प्रवृत्तियाँ ही, जो आचरण के क्षेत्र में सम्पूर्ण क्रिया-कलाप की प्रेरक हैं, कला के क्षेत्र में रस अथवा आनन्द की जननी हैं। कला अपनी अभिव्यञ्जक सामग्री द्वारा, आस्वादन के क्षण में बोधात्मक तथा क्रियात्मक वृत्तियों को स्थगित करके, शुद्ध रागात्मक अनुभूति को जाग्रत करती है जिसका नाम 'रस' है। आत्मा में एक स्वाभाविक 'रसनीयता' वृत्ति रहती है जिसके जाग्रत होने से 'चमत्कार' का अनुभव होता है। रसनीयता का आधार मूल प्रवृत्तियाँ हैं। अतएव काम, क्रोध, भय,

आश्चर्य आदि साधारण उद्वेग भी कला की शक्ति द्वारा 'आनन्द' में रूपांतरित हो जाते हैं। भरत ने रसानुभूति का जो विश्लेषण और विवेचन किया है उसके द्वारा सौन्दर्य-शास्त्र को सदा के लिये मनोवैज्ञानिक आधार मिल गया है। रस-सिद्धान्त का प्रभाव भारतीय साहित्य में तो है ही, संगीत, मूर्ति तथा चित्रकला भी इससे बचे नहीं हैं। कला के द्वारा मूल-मानव स्वभाव की रूपान्तरण-विधाएँ तथा कला के विभिन्न उपादानों का गंभीर अध्ययन—यह रस-सिद्धान्त के विकास की दिशा है।

ध्वनि, चर्वणा और चमत्कार—रस अभिव्यक्त किया जाने वाला पदार्थ है और ध्वनि अभिव्यञ्जना का कलात्मक प्रकार है। रस का साक्षात् निरूपण कला को ग्राह्य नहीं; क्योंकि इससे मन और बुद्धि में कल्पना, स्मृति, भावना आदि क्रियाओं का उन्मेष नहीं होता, जिससे आत्मा की स्वाभाविक 'रसनीयता' जाग्रत नहीं होती। मनुष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का सक्रिय जागरण (activation) कला के माध्यम से तभी सम्भव है जब मन, बुद्धि और चित्त में अनेक शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि की प्रबल स्मृतियों, नवीन लोकों में विचरण करने वाली कल्पनाओं, रस के अनेक प्रवाहों को लेकर वहने वाली भावनाओं का एक साथ उदय और उन्मेष हो उठे। इसका अर्थ है कि रस का साक्षात् वर्णन न होकर इन क्रियाओं को जाग्रत करने वाली अभिव्यञ्जक सामग्री के द्वारा इसका प्रतिपादन होना चाहिए। इस विधा का नाम ध्वनि है। इस प्रकार जो रसिक के अन्तराल में उन्मेष उत्पन्न होता है इस क्रिया का नाम 'चर्वणा' है: यह रसास्वादन का एक प्रकार है तथा यह रसानुभूति अन्य सुखानुभूतियों से भिन्न होती है, क्योंकि इसमें जीवन और आत्मा को दबा कर रखने वाली मानस-ग्रंथियों का उन्मूलन हो जाता है और अपने ही अन्तर की विशालता और सुख-स्वरूपता का अनुभव होता है। इस रसानुभूति का नाम ही 'चमत्कार' है।

लय—भारतीय कला के विषय में प्रसिद्धि है कि यह 'ल्यात्मक' है। इसकी दृश्य कलाओं जैसे चित्र, मूर्ति अथवा स्थापत्य में भी संगीत का लय गुण विद्यमान रहता है। अतः इन सब का आनन्द भी ध्यानावस्थित होकर

‘श्रव्य’ रूप में ही लिया जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय कला में ‘दृश्यता’ की अपेक्षा ‘श्रव्यता’ अधिक है, क्योंकि इसका मुख्य प्रभाव जीवन के प्रवाह का कला की शक्ति द्वारा इसकी स्वाभाविक गति प्रदान करना है। जीवन की स्वाभाविक गति में इसकी आकस्मिक परिस्थितियों से उत्पन्न अनेक भार, जटिलताएँ, समस्याएँ और सीमाएँ नहीं हैं। अतएव रसानुभूति की स्वच्छ और स्वच्छन्द गति का अद्भुत और सुखमय उदय होता है जिसमें हमारा साधारण व्यक्तित्व डूब जाता है और एक तिरोहित आध्यात्मिक चेतना का संचार होता है। इसी का नाम लय-सुख है जो कला का सार है।

आध्यात्मिकता—भारतीय कला रसानुभूति को मन, बुद्धि आदि की क्रीड़ा और रञ्जना नहीं मानती। इनसे ऊपर उठकर यह आत्मलोक तक जाती है। ससीम के द्वारा असीम की, जड़ के द्वारा चेतन की, सान्त के द्वारा अनन्त की अनिर्वचनीय अनुभूति उत्पन्न करना इसका उद्देश्य है। इसी से रसास्वादन ने उपासना का रूप लिया जिसका सार था “तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतं गमय” आदि। इसीलिए यह कला धर्मप्राण बहुत काल तक रही और अपने स्वतन्त्र-विकास से वंचित भी रही।

मर्यादावाद—रसास्वादन को उपासना का रूप मानने वाली कला ने अपने को मर्यादाओं से सुरक्षित किया। इस मर्यादावाद ने बहुत काल तक कला के कलेवर को विकृत न होने दिया, परन्तु साथ ही इसके सर्वाङ्गीण विकास को रोक दिया। यद्यपि प्रतिभा ने बन्धनों को बारम्बार तोड़ने का प्रयत्न किया, किन्तु अन्ततोगत्वा यह निष्प्राण हो ही गयी। ये मर्यादाएँ लोक-मंगल की भावना, नीति, धर्म और आचार के विचार आदि ही न थे जिनके कारण कठणा-प्रधान दुखान्त साहित्य का अंग पूरा न हो सका, अपितु आचार्यों द्वारा, जो स्वयं विकट प्रतिभा से शून्यप्राय थे, काव्य, नाटक, मूर्ति आदि के अनुशासन बनाये गये जिनका भार कला चिरकाल तक नहीं सह सकी। ये मर्यादाएँ क्या एक दम व्यर्थ हैं—यह भारतीय कला का विचारणीय प्रश्न है।

शक्ति का स्रोत—**शम और शान्ति**—यह भारतीय कला-शास्त्र का अत्यन्त विचारणीय विषय है कि इसने अब तक प्राकृतिक प्रवृत्तियों को

शमन करने वाली शक्ति को ही कला के लिए शक्ति और प्राण का स्रोत माना है, इन प्रवृत्तियों की पाशवी अभिव्यञ्जना और स्वाभाविक तीव्रता को नहीं। स्पष्ट करने के लिए उदाहरण लीजिए : भारतीय साहित्य में काम से अत्यन्त पीड़ित दुष्यन्त और शकुन्तला धर्म, समाज और नीति की मर्यादाओं में बँधकर केवल मर्यादित क्रिया ही करते हैं। मर्यादा के सम्मान से चरित्र की भव्यता, सामाजिक सम्बन्ध की शालीनता और शम की शक्ति की अभिव्यञ्जना होती है जो इस साहित्य में भारतीयता का आधार है। यदि यही दृश्य पाश्चात्य नाटककार के हाथ में होता तथा वातावरण भी पश्चिमी होता तो काम की तीक्ष्णता का परिचय दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला का हरण अथवा बलात्कार, शकुन्तला के अभिभावकों अथवा अन्य प्रेमियों द्वारा भयंकर षड्यंत्र और योजनाओं की रचना आदि द्वारा मिलता। इसी प्रकार बुद्ध की मार-विजय जो अशान्ति के ऊपर शान्ति की, प्रकृति के ऊपर आत्मा की विजय है, वह वास्तव में हाथ में तलवार ताने हुए घोड़े पर सवार सर्व-विजयी वीर की मूर्ति होती। प्रश्न यह है कि क्या भारतीय कला इस परंपरा को बदल कर लाभान्वित हो सकती है।

प्रतीकवाद और आदर्शवाद—मिट्टी से इसके पैर मैले न होने पायें, इसी से भारतीय कला ने अधिकांश में पृथ्वी पर इनको नहीं रक्खा; अपितु आकाश में और इससे भी ऊपर उड़ने का सदा प्रयत्न किया। आदर्शों के प्रकाश में धुँधलायी हुई दृष्टि ने अपने समीप की दृढ़ भूमि को कम देखा। परन्तु उड़ना बहुत देर तक सम्भव नहीं था, इसीलिए इसे अनेक बार, विश्रान्ति के लिए ही सही, पृथ्वी के रजकण पर बठना पड़ा। सम्पूर्ण भारतीय साहित्य और कला में आदर्श और यथार्थ का, आकाश की ऊँचाई और पृथ्वी की गुरुता का, प्रकाश की दिव्यता और अन्धकार के विस्तार का, संघर्ष चलता है। इस संघर्ष की झनझनाहट स्पष्ट सुनाई पड़ती है। “परोक्षप्रिया हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः”—इस याज्ञिकी वदन्ती को सामने रखकर आदर्शों और आदर्श अनुभूतियों की व्यञ्जना के लिए अनेक प्रतीकों की सृष्टि यहाँ की गयी। कला को जहाँ दिव्यता प्राप्त हुई वहाँ इसमें कृत्रिमता और दुरुहता के साथ ही

जीवन से दूरी भी उत्पन्न हो गयी। यद्यपि कला सदैव प्रतीकों द्वारा ही अपने को मूर्त्त करती है, पर ये प्रतीक जीवन और उसके आन्तरिक तथा बाह्य रूपों से ही प्रकट होते हैं। अन्तर्द्वन्द्व कला सृष्टि के लिए प्राण रूप हैं, परन्तु यह आवश्यक नहीं कि इनमें सदैव आदर्श की ही विजय हो, सदा शान्ति और सुख ही नसीब हो। विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या कला 'आदर्श' और 'उज्ज्वल' को मूर्तिमान् करके ही अपना लक्ष्य सिद्ध करती है अथवा इसका स्वयं अपना भी कोई स्वतंत्र उद्देश्य है जो स्वयं अपना आदर्श है।

(२)

ऊपर भारतीय कला के प्रधान तत्त्वों का दिग्दर्शन है जो इस देश के बहुमुख ऐतिहासिक विकास की उपज हैं। कला में जिसे हम 'आधुनिकता' कहते हैं, वह वास्तव में अनेक तत्त्वों से मिल कर बनती है। प्रारम्भ में 'आधुनिकता' का स्वरूप निषेधात्मक रहा : इसने पुरातन के निषेध को नवीनता माना। धर्म, नीति, समाज आदिकी प्राचीन व्यवस्थाओं और परम्पराओं का उन्मूलन वेग और तीखेपन के साथ करना इसका प्रथम उद्देश्य रहा। इस संघर्ष की ध्वनि अभी वन्द नहीं हुई। परन्तु नूतन के सृजन की कल्पना अब स्पष्ट होती जा रही है और भावी आदर्शों का प्रकाश अब प्रातःकालीन झिलमिलाहट से बढ़ कर उज्ज्वल हो चला है। इस सब के होते हुए भी जीवन की नवीन परिस्थिति की छाप कला पर चिरकाल के लिए लग गयी है। यदि हम आधुनिक कला को 'आकुल कला' (Art of unrest) कहें तो अत्युक्ति नहीं।

आकुलता का स्रोत पुरातन के प्रति विद्रोह की भावना तो है ही नवीन के प्रति उत्कण्ठा और उत्साह भी है, किन्तु इतना कथन हमें मूल तक नहीं ले जाता। सम्यता और संस्कृति, धर्म और नीति, व्यवस्था और मर्यादा के नाम से मनुष्य अपने स्वाभाविक रूप को चिरकाल से छिपाता आया है। उसने ऐसी रचि और संस्कार कर लिये हैं कि जिनसे उसके स्वभाव की तुष्टि और पुष्टि के बजाय निराशा और असन्तोष ही प्राप्त होते हैं। उसका 'अहं' अनेक सिद्धान्तों और रूढ़ियों से इतना दलित हो गया है कि उसे श्वास लेने

में कठिनाई का अनुभव होने लगा है। धार्मिकता और अध्यात्मवाद ने उसे जो व्यक्तित्व प्रदान किया था वह उसके मूल स्वभाव के ऊपर अत्यन्त झीना आवरण-सा प्रतीत होने लगा है। विज्ञानों के विकास ने तथा बुद्धि के द्वारा जीवन और जगत् को समझने के नवीन प्रयत्न ने उसकी सामाजिक और आर्थिक विषमताओं से मिल कर मनुष्य के 'अहं' को नवीन बल दिया और उसकी 'आत्मा' को विलीन कर दिया। वर्तमान कला को यदि हम 'अहं प्रधान' और अनात्मवादी कहें तो हम साहित्य और कला के बहुत से अंग को समझ सकेंगे। किसी आधुनिक कविता को लीजिए और उसमें कितनी बार 'मैं, अपना, मेरा' आदि का प्रयोग हुआ है देखिए। इसकी 'अहं-प्रधानता' स्पष्ट होगी। यह 'अहं' ही आकुलता का मूल-स्रोत है। यही भावना और विचारों का सक्रिय केन्द्र है। यद्यपि पिछले आदर्शवाद से प्रभावित हो कर यह 'अहं' केवल व्यक्ति का एकाकी 'अहं' नहीं रह गया है, उसमें समष्टि का दृष्टिकोण, मानवता का उदार विचार, प्रकट होने लगा है, किन्तु इस 'अहं' में आत्मा की गम्भीरता के स्थान पर अभी 'विस्तार' ही है।

व्यर्थ ही आधुनिक कला में हम शम और शान्ति, सामञ्जस्य और संवाद को खोजने का प्रयत्न करते हैं, क्योंकि इसकी शक्ति का आधार तो तीव्रता और विसंवाद है। यह विसंवाद केवल ऊपरी परिस्थितियों से ही उत्पन्न नहीं हुआ, अपितु यह 'अहं' के चेतन और अचेतन तत्त्वों में 'सनातन' और घोर अन्तर्द्वन्द्व से निकला है। 'चेतन' ससीम है, मर्यादाओं से गुंथा हुआ है, हमारे साधारण जीवन का परिचित और उपयोगी यंत्र है। अचेतन असीम और प्रबल, मर्यादाओं को तिरस्कृत करने वाला हमारे 'अहं' का अभिन्न किंतु अन्धा तत्त्व है। इसे अस्वीकार करना असम्भव है, किन्तु इसका स्वीकार करना आन्तरिक संघर्ष का कारण है। यह विषम मानसिक परिस्थिति, विज्ञान का आधार पाकर, और भी भयंकर हो गयी है। आधुनिक कलात्मक अभिव्यक्ति इस विसंवाद और द्वन्द्व से ओत-प्रोत हो उठी है। आज इसीलिए कलाकार स्वयं 'बेचैनी' और वेदना को अंगीकार करता है : वह किनारे पर पहुँचने की विश्रान्ति नहीं, अपितु दिशाहीन, तटहीन और, संभवतः तरीहीन

होकर सतत 'अनजाने' क्षितिज की ओर बहते जाना चाहता है। यह 'वेदना' भी अब व्यक्तिगत नहीं रह गयी है। पुराने दार्शनिक विचारों के प्रभाव से इसका रूप समष्टिगत, उदार और विगत 'सूफी' के 'इश्क हकीक़ी' या भक्त और भगवान् के अनन्य प्रेम की पवित्रता और शालीनता से छू गया है।

आधुनिक कला को बुद्धि-प्रधान कहना संगत नहीं होगा। वास्तव में जहाँ बुद्धि ने वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रदान करके हमारे समाज, धर्म आदि सम्बन्धी सिद्धान्तों में आमूल क्रांति उत्पन्न की है वहाँ साथ ही अपनी सीमाओं को भी खोल दिया है। फल यह हुआ है कि बुद्धि का क्षेत्र सीमित हो गया है और वह स्वयं भावना और उद्वेगों के यंत्र की भाँति दिखने लगी है। दर्शन के नये सिद्धान्तों तथा जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में नये विचारों को देखिए तो प्रतीत होता है कि बुद्धि के द्वारा नहीं, भावना के द्वारा ही उनके सत्यासत्य का निर्णय हो रहा है। नवीनवादों और आन्दोलनों का आधार भी भावना ही है, जिसकी अभिव्यक्ति के लिए कला आज अपने समग्र उपकरणों से सचेष्ट है। 'स्वतंत्रता', 'राष्ट्रीयता', 'समानता', 'शान्ति' आदि जितने भी 'मूल्य' सूचक शब्द हमारे जीवन में प्रचलित हैं, उनके मूल्य का मूल हृदय के भाव ही हैं। बुद्धि तर्क के द्वारा भावना को दृढ़ बनाती है, स्वयं उनके विषय में निर्णय नहीं देती। सम्पूर्ण जीवन की दृष्टि से यह युग भावना-प्रधान है।

(३)

आधुनिक कला का प्राण वेदना, अन्तर्द्वन्द्व, अहं भावना और स्वतन्त्रता आदि तत्त्वों से बना है। 'नवीनता' इसकी अभिव्यक्ति का साधन है। क्या हम इस कला का मूल्यांकन 'रस', चर्चणा, ध्वनि, चमत्कार आदि भारतीय सौंदर्य-शास्त्र के मानदण्डों से कर सकते हैं? एक दृष्टि से तो ऐसा करना गज्र की सहायता से मन, सेर को नापने के तुल्य होगा, अथवा नमक को यह कहने के समान होगा कि उसमें मीठा नहीं है। आधुनिक कला का स्वरूप सच्चा है क्योंकि यह युग की उपज है; जीवन में इसकी जड़ हैं, इसके विकास की दिशा इतिहास ने निश्चित की है। इसलिए यद्यपि प्राचीन सौंदर्य सम्बन्धी मानदण्ड यहाँ लागू नहीं होते, तथापि यह न उन मानदण्डों को

असत्य सिद्ध करता है (उनकी सीमाओं को अवश्य प्रकट करता है) और न नवीन कला में 'असुन्दर' का कोई प्रमाण माना जा सकता है। नवीन कला ने कल्पना और कृतित्व के लिए विशाल क्षेत्र खोल दिये हैं। जीवन से कला का सम्बन्ध जोड़ कर, आधुनिक कलाकार ने अपनी अभिव्यक्ति को जीवन की अनन्तता, गम्भीरता और गति, असीम शक्ति और साहस, विकास की अनेक अज्ञात दिशाएँ आदि प्रदान की हैं जिसके कारण नव रस और कुछ अलंकारों तक सीमित रहने वाला साहित्य और धर्म-प्राण कला अवश्य ही अत्यन्त संकुचित और अनावश्यक ही सीमित प्रतीत होते हैं।

आधुनिक कला को आध्यात्मिक गम्भीरता तो नहीं मिली, किन्तु जन-जीवन के तल में ऊर्मिल अनेक मानसिक गतियों, आदर्शों और समस्याओं से नवीन विधान मिला है जिसका कला के लिए कम महत्त्व नहीं है। एक बात अवश्य है कि विस्तार और विकास की अप्रत्याशित गति के कारण कला में अनेक विजातीय तत्त्व मिल गये हैं, जैसे राजनैतिक, आर्थिक आदि आन्दोलनों से उत्पन्न मतान्धता और विज्ञान से उत्पन्न हमारे दार्शनिक, धार्मिक आदि क्षेत्रों की अनेक मान्यताएँ। कला का स्वतंत्र लक्ष्य पुनः दूरस्थ और अन्य उद्देश्यों के अधीन हो गया है। यदि हम कला के स्वतंत्र आदर्श—सौन्दर्य का सृजन और रस की अनुभूति—को स्मरण रखें और इसका उपयोग दूसरे लक्ष्यों के लिये न करें तो आधुनिक कौशल और विज्ञान ने जो उपकरण, सामग्री और क्षेत्र कला के लिए प्रदान किये हैं वे इसे अत्यन्त समृद्ध बनाने के लिए पर्याप्त हैं। परन्तु यह आधुनिक कला का दोष नहीं है : विज्ञान का प्रयोग भी उसके शुद्ध आदर्श के अतिरिक्त राजनैतिक और आर्थिक, यहाँ तक कि अनैतिक हिंसात्मक, उद्देश्यों के लिए किया गया है। यह तो कला के अचूक प्रभाव को दूषित कार्यों में लगानेवाले लोगों का दोष है। अतएव यदि हम इसके दुरुपयोग और विजातीय तत्त्वों की ओर ध्यान न दे कर इसके नूतन साधनों को देखें तो हम कला के भावी और सम्भव वैभव का अनुमान कर सकते हैं।

(४)

भारतीय सौंदर्य-शास्त्र और आधुनिक कला में जो अन्तर दिखाई पड़ता है वह आकस्मिक है, आवश्यक नहीं। ज्यों ही कला अपने स्वतंत्र स्वरूप की ओर अग्रसर होगी और उसमें परिपाक के चिह्न दिखाई देंगे त्यों ही उसमें 'आकुलता', 'वेदना' आदि के स्थान पर 'आनन्द' का आदर्श स्पष्ट होगा। वेदना का स्वरूप अधिक आध्यात्मिक होता जायगा; इससे इसमें गम्भीरता का उदय होगा तथा सीमित व्यक्तित्व और परिस्थितियों का स्थान समष्टि और सनातन आदर्श लेंगे। यह अवश्य है कि यह 'आनन्द' जो वेदना के रूपांतरण और मूल्यान्तरण से उत्पन्न होगा वह केवल भरत के रस-सूत्र द्वारा ही संकुचित न किया जायगा। ये रस आनन्द के एक अंशमात्र होंगे, किन्तु इनसे भी बढ़ कर वह उदात्त आनन्द कला का प्राण कहलाएगा जो जीवन—विराट, अनन्त, अमर, सतत गतिशील और प्रगतिमय जीवन—के वास्तविक स्वरूप के अनुभव से उत्पन्न होता है। जीवन और आनन्द पर्यायवाची हैं यद्यपि जीवन की आकस्मिक परिस्थितियाँ जो विकास के मार्ग में एक क्रम मात्र हैं इसे सदा संघर्ष और दुःख से पूर्ण रखती हैं। परन्तु इन आकस्मिक लहरों के तल में सनातन जीवन की गतिशील धाराएँ बहती हैं जो सदा विजय और विकास की ओर चलती हैं। यदि कला लहरों में ही नहीं उलझ जाती और इनके क्षणिक उत्थान और पतन को ही सम्पूर्ण सत्य नहीं मानती तो निश्चय है कि इसका लक्ष्य 'आनन्द' की अनुभूति होगा, दुःख और विलाप नहीं।

कला अपनी परिपक्व अवस्था में 'सुन्दर' और 'आनन्द' की सृष्टि तो करती ही है, साथ ही इसकी शक्ति का आधार भी उत्तरोत्तर 'शम' और 'शान्ति' होता जाता है। जिस स्पन्दन की क्रिया से 'गर्मी' और जोश पैदा होता है, उसके तीव्रतर हो जाने से 'प्रकाश' की उत्पत्ति होती है। मानसिक आन्दोलनों में जो शक्ति और वेग हैं वे उनके व्यवस्थित हो जाने पर उद्वेग के रूप में नहीं, 'स्थिरता' के रूप में प्रकट होते हैं जिसे हम 'शम' कहते हैं। इस प्रकार भरत की उक्ति कि शम से ही सम्पूर्ण रस जगते हैं और इसी में विलीन

हो जाते हैं एक सनातन तथ्य को प्रकट करती है। इसी प्रकार कला ज्यों ही लहरों को लहर मान कर अपने आधार और मूल की ओर चलेगी त्यों ही उसमें स्वयं ही आध्यात्मिक गम्भीरता का उदय होगा। ऐसी कला में आनन्दानुभूति का आधार स्वभावतः 'लय' होगा अर्थात् असीम में ससीम के मग्न हो जाने से जो अनिर्वचनीय ब्रह्मानुभूति होती है वही अनुभूति कला के आस्वादन से उत्पन्न होगी। परिमित व्यक्तित्व की शृंखलाओं के छिन्न होने से रसिक जिस नवीन स्फूर्ति के संचार का अनुभव करेगा वह अवश्य ही 'चमत्कार' उत्पन्न करने वाला होगा। कला का सुख वास्तव में अपने ही अन्तर में जागने वाली अनेक मानसिक और आध्यात्मिक क्रियाओं का सुख है जिसे 'चर्वणा' कहा जाता है। पुष्ट और परिपक्व कला अपने सम्पूर्ण साधनों द्वारा जितना ही गम्भीर आत्मिक-क्रिया (Self activity) को जाग्रत करती है उतनी ही सफल होती है। 'चर्वणा' के अतिरिक्त रसास्वादन का दूसरा प्रकार नहीं दिखता। इस प्रकार ज्योंही हम आधुनिक कला के भावी विकास-मार्ग का अवलोकन करते हैं, हम भारतीय सौन्दर्य-शास्त्र के मूल तत्त्वों की ओर मुड़ते हैं। ये मूल तत्त्व वास्तव में प्रौढ़ और पुष्ट कला के सार और आदर्श हैं। ऐतिहासिक परिस्थितियों के परिवर्तन से जो कला के नूतन स्रोत फूट उठे हैं उनकी दशा वही है जो इस देश के सौन्दर्य-शास्त्रियों ने निश्चित की है, यद्यपि ये सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व विकास के नवीन मार्गों पर चलते हुए स्वयं भी अवश्य विकसित हो रहे हैं। ये तत्त्व वास्तव में सौन्दर्य के उन बीजों की भाँति हैं जो भिन्न-भिन्न ऋतु-परिवर्तनों, वर्षा, गर्मी और शीत आदि के आवागमन को अपने हित के लिये प्रयोग करते हुए प्ररोहों के रूप में अंकुरित होते हैं तथा शाखा, पल्लव, पुष्प, फलादि से सदैव समृद्ध होते चले जाते हैं। भारतीय सौन्दर्य-शास्त्र ने कला के आविर्भाव तथा विकास के लिए अवश्य ही सनातन बीजों को मनीषी विद्वानों के लिए प्रस्तुत किया है।

सौन्दर्य-तत्त्व और आलोचना के मानदण्डों का विकास

सौन्दर्य साहित्य का व्यापक गुण है। किसी भी प्रकार के साहित्य को, जहाँ शब्दों के चयन में ओज, माधुर्य आदि अनुभूतियों को जगाने वाली ध्वनि हो, वाक्यों की गति में संगीत जैसा लय का उत्थान-पतन हो, विभिन्न अवयवों में परस्पर समन्वय और मेल हो तथा आत्मा को आलोक और आह्लाद से आप्लावित कर देने वाले किसी अर्थ का उद्घाटन हो, हम 'सुन्दर' कह सकते हैं। सम्भव है वैज्ञानिक और दार्शनिक साहित्य में भोग और रूप-तत्त्वों पर ध्यान न देकर केवल अर्थ की गवेषणा, स्थापना आदि के लिए शुद्ध तर्कों का प्रयोग किया जाय। ऐसी अवस्था में साहित्यकार का अभिप्राय 'रस' की भावना को उद्बुद्ध न करके केवल बुद्धि के सत्य का अनुसन्धान करने वाली अवधान, युक्ति आदि प्रक्रियाओं को समुन्नत करना होता है। उस समय 'सत्य' के उद्घाटन से अद्भुत मानसिक उल्लास होता है जिसे हम बुद्धि की 'प्रसन्नता' या 'प्रसाद' कह सकते हैं। सत्य की अभिव्यक्ति करने वाला साहित्य 'नीरस' होकर भी—अथवा, नीरस हो कर ही—प्रसन्नता की अनुभूति उत्पन्न करता है, किन्तु इस अर्थाभिव्यक्ति में भाषा का 'भोग' और अवयवों के समन्वय और सन्तुलन से उत्पन्न 'रूप' विद्यमान होने पर सौन्दर्य के चमत्कार का उदय होता है। तब 'सत्य' और 'सुन्दर' का मिलन होता है। वस्तुतः तब सत्य सुन्दर होता है और तभी आनन्द की भावना से प्राणित हुई बुद्धि उसे ग्रहण करती है।

रसानुभूति के विषय में कुछ भ्रान्तियाँ हैं जिनके कारण हम 'सौन्दर्य' को समझने में भूल कर जाते हैं, जैसे (क) रस और तृप्ति में हम भेद नहीं करते। वस्तुतः किसी प्राकृतिक प्रवृत्ति की तृप्ति में जिस जड़ता, आवेग, व्यक्तित्व का संकोच तथा श्रम आदि का अनुभव होता है उसके स्पर्श से ही रस का अनुभव विकृत और क्षीण हो जाता है। रस के अनुभव में शरीर, प्राण, मन, बुद्धि तथा आत्मा में भी स्फूर्ति, प्रकाश और विश्राम की प्रतीति होती है। यद्यपि रस और तृप्ति के मूल में जीवन की स्थायी प्रवृत्तियाँ रहती हैं, तथापि इनके कारणों में अन्तर होने से इन दोनों अनुभवों में भी भारी भेद हो गया है। (ख) हम बहुधा रस और सुख को भिन्न नहीं कर पाते। वस्तुतः रसानुभूति में सुख से भी अधिक दुःख, वैराग्य, भय आदि वेदनाएँ रहती हैं, जिनसे आत्म-शक्ति द्रवित होकर नवीन स्तरों पर उठती है और बुद्धि में नवीन आलोक की धाराएँ बह उठती हैं। भय, वैराग्य आदि वेदनाओं का स्थान सौन्दर्य के अनुभव में महत्त्वपूर्ण है। (ग) हम रस और भावोद्रेक अथवा भावनोद्रेक को समान अनुभव समझते हैं जबकि रस के अनुभव में भावना के अतिरिक्त और इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण जीवन के अन्यान्य अनुभव तथा मानसिक क्रियाएँ विद्यमान रहती हैं। वस्तुतः रसानुभूति में पड़कर प्रत्येक मानसिक क्रिया, बुद्धि की युक्तियाँ, दार्शनिक सिद्धान्त, धर्म और नीति के तत्त्व 'रसनीय' हो जाते हैं। भावना के प्रभाव से इन तत्त्वों में 'कोमलता' अवश्य उत्पन्न हो जाती है, किन्तु रसानुभूति हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्व की अनुभूति होने के कारण केवल 'भावना' या इसका उद्रेक नहीं है।

सौन्दर्य का सम्बन्ध एक ओर उस व्यक्त मूर्ति से है जिसे हम 'सुन्दर' वस्तु कहते हैं और जिसमें भोग, रूप, अभिव्यक्ति आदि गुण रहते हैं। दूसरी ओर इसका सम्बन्ध 'रस' अथवा 'आनन्द' से है जो मानव-आत्मा की एक प्रकृष्ट अनुभूति है। प्रत्येक कला सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिए अपने अनुकूल माध्यमों का प्रयोग करती है। माध्यम की भिन्नता के कारण इनमें सौन्दर्य की व्यक्त मूर्ति भी भिन्न होती है, जिन्हें हम काव्य, राग, चित्र,

नृत्य, प्रतिमा और भवन कहते हैं। साहित्य में सौन्दर्य और रसानुभूति के स्वरूप का निश्चय करने के लिए हमें कलाओं में इसके स्थान का निर्णय करना चाहिए।

संगीत में स्वर माध्यम है। यह माध्यम 'कालिक' है अर्थात् इसमें काल की भाँति गति रहती है, इसका विस्तार 'स्थान' में नहीं होता। गति-स्वरूप होने के कारण संगीत का सर्व-प्रथम प्रभाव यह होता है कि वह जड़ता को दूर करके जीवन को उसकी स्वाभाविक गति प्रदान करता है। जीवन की जड़ता के निर्गलन से अर्थात् वासना तथा उद्वेग आदि ग्रन्थियों के उपराम हो जाने से 'लय' का अनुभव उत्पन्न होता है। संगीत का आनन्द इसी स्वर-सिन्धु में 'लय' होने का अनुभव है।

साहित्य अपने सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिए संगीत से गति, छन्द, स्वर के माधुर्य तथा लयात्मक अनुभव को उधार लेता है, किन्तु इस अनुभव में शब्द के लोच और अर्थ के आलोक को जोड़कर साहित्य जीवन की प्रगति के लिए प्रकाशमय दिगन्तरालों का उद्घाटन कर देता है। संक्षेप में साहित्य स्वरों की संगति, इनके माधुर्य, ओज, लय आदि को अनेक स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि प्रखर अनुभूतियों, कल्पना के द्वारा सृजन किये गये अद्भुत लोकों तथा विचारों द्वारा प्राप्त अनेक निर्णीत सिद्धान्तों के अनन्त अर्थालोक से भर देता है जिसके कारण स्वर शब्द का स्वरूप धारण करते हैं, इनका सामं-जस्य वाक्यों के रूप में प्रकट होता है तथा राग का एक व्यापक अनुभव साहित्य में प्रधान रस कहलाता है। संगीत स्वरों का साहित्य है और साहित्य शब्दों का संगीत है। कलाओं में साहित्य संगीत के निकटतम है।

चित्र रेखा और वर्णों की संगति से उत्पन्न होता है और इसका माध्यम 'दृश्य' अथवा 'स्थानिक' है। चित्र को रेखा और वर्णों से निर्मित 'दृश्य-संगीत' भी कहा जा सकता है। स्थानिक होने के कारण चित्र में गति उत्पन्न करने तथा ओज, माधुर्य आदि गुणों की अभिव्यक्ति के लिए रेखा की गति, उतार-चढ़ाव तथा वर्णों के छाया-प्रकाश, घनत्व और विरलता आदि कौशलों का प्रयोग किया जाता है। साहित्य की भाँति चित्र में 'अर्थ का आलोक'

रहता है। फलस्वरूप अनेक स्मृतियाँ, अतीत और अनागत की आकांक्षाएँ, विचारों की नूतन धाराएँ उदित हो जाती हैं। दृष्टि चित्र से दूर कल्पना के लोकों में जाती है, किन्तु पुनः आकृष्ट होकर रेखा और रंगों की संगति का अवगाहन करने लगती है। रेखा पुनः-पुनः संकेतों के बल से दृष्टि को कल्पना के आलोक से भर देती है। यह आकर्षण-विकर्षण चित्र-सौन्दर्य से उत्पन्न 'रस' का रहस्य है।

साहित्य शब्दों के द्वारा अर्थों का अवगाहन करता है। अर्थ अव्यक्त और सूक्ष्म पदार्थ हैं। अर्थ और अनुभूति के मूर्त होने के लिए चित्र सबसे सरल और उपयुक्त साधन है। साहित्य इसीलिए चित्र-कला से कल्पना को लेकर शब्दों में रेखा और रंगों की संकेत-शक्ति भर देता है।

मूर्ति जीवन के प्रवाह को स्थिर रूप में देखने की कला है। जीवन सनातन है और काल की भाँति सतत गतिशील है। मूर्ति इस सनातन, गतिशील काल का एक क्षण है, जिसे मूर्तिकार कल्पना और कौशल के बल से स्थिर कर देता है। मूर्ति जिस क्षण को स्थिर करती है उसके ध्यान से 'पूर्वापर' का उद्घाटन होता है; रेखा, रंग, आकार, घन, आयाम आदि के संकेत से कल्पना सजग हो उठती है और जीवन की जड़ताओं से संकुचित आत्मा अपने सनातन और असीम व्यक्तित्व का अवगाहन करती है। साहित्य मूर्ति-कला से न केवल अर्थों को मूर्त करने का सिद्धान्त ग्रहण करता है, अपितु जीवन को मूर्त करने के कौशल को भी स्वीकार करता है। वह कौशल है: प्रवाह में उस क्षण को स्थिर और मूर्त करना जो सम्पूर्ण जीवन की ओर संकेत कर सके अर्थात् जहाँ 'क्षण' में 'सनातन' की अभिव्यक्ति सम्भव हो सके।

भवन-निर्माण-कला अथवा स्थापत्य, कला वह है जिसमें हमें जीवन की क्षणिकता, इसके परिवर्तन और विकार के स्पर्श से रहित शुद्ध चिरन्तन तत्त्वों का मूर्त, साक्षात् अनुभव ज्यामितिक आकारों के संकेत से कराया जाता है। साहित्य जीवन की इतनी प्रखर अभिव्यक्ति है कि इसमें जीवन का चिरन्तन रूप प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। अतएव साहित्य में जहाँ-कहीं सनातन तथ्यों का प्रतिपादन, तरल जीवन के मूल में अचल नियमों का उद्घाटन

किया जाता है वह साक्षात् न होकर दूर के संकेतों द्वारा किया जाता है। जहाँ इसका शब्दों और युक्तियों से साक्षात्कार कराया जाता है, वह शुद्ध 'दर्शन' का रूप धारण करता है। जब 'दर्शन' अथवा दार्शनिक तत्त्व भावमय होकर मन्दिर या मस्जिद का रूप धारण करते हैं तो वह 'भवन का सौन्दर्य' होता है।

साहित्यिक सौन्दर्य में संगीत का लय, चित्र की रूपता, मूर्ति और भवन के 'सनातन' की ओर प्रबल संकेत विद्यमान रहते हैं। अर्थ-प्रधान कला होने के कारण, साहित्यिक सौन्दर्य अर्थों की परस्पर संगति, सन्तुलन, सापेक्षा आदि से उत्पन्न होता है। इसका अर्थ है कि अनेक अर्थों में, जैसे कल्पना, भावना, प्रवृत्ति, विचार, नैतिक, धार्मिक तथा सामाजिक वृत्तियों में, इस प्रकार सन्तुलन होना चाहिए कि उससे सौन्दर्य का अनुभव सम्भव हो सके। जिस साहित्य में इन मानवीय अनुभूतियों में सामंजस्य का अभाव है वह साहित्य सुन्दर नहीं कहा जा सकता। एक दृष्टि से सामंजस्य का नाम ही सौन्दर्य है। तब तो वह साहित्य जो अनन्त अर्थों में अर्थात् मनुष्य की अनेकानेक अनुभूतियों में समन्वय उत्पन्न कर सके, वह सुन्दर साहित्य है।

साहित्य में रस भी अर्थों के प्रभाव से अनुभव किया जाता है, यद्यपि साहित्यकार अपनी रचना में संगीत, चित्र आदि से भी सहायता ले सकता है। फिर यदि अर्थ स्वयं संगतिहीन, असत्य, असन्तुलित और अशक्त है तो केवल शब्दों की झंकार से साहित्य-रस का अनुभव सम्भव नहीं। साहित्य में तो संगीत, चित्र आदि का कौशल अर्थ की अभिव्यक्ति को समर्थ बनाने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। अन्ततोगत्वा साहित्य का सौन्दर्य अर्थ और अनुभूति का सौन्दर्य है, जिसकी समर्थ अभिव्यक्ति के लिए शब्दों का संगीत, छन्द, अलंकार इत्यादि उपकरण-मात्र हैं।

(२)

प्रश्न उठता है कि क्या हम इस सौन्दर्य को नाप सकते हैं?

यदि हम स्वयं अपनी आत्मा की गहराई नाप सकें तो अवश्य ही रसानुभूति और सौन्दर्य की थाह पा सकते हैं। वैदिक काल से यह प्रयत्न चला आ रहा है; 'आत्मा स्वयं रस है, रस से चराचर की सृष्टि और पालन होता है

और रस में ही सारा विश्व विलीन हो जाता है।' यह इन आदिकालीन दार्शनिकों का निर्णय था। परन्तु आत्मा अनन्त, अमेय और अखण्ड है, हम इसका मन, वाणी या इन्द्रियों से निर्वचन नहीं कर सकते, यद्यपि आत्मा के ऊपर छाये हुए मलावरणों को हटा कर हम स्वयं वही बन सकते हैं। हम स्वयं आत्मरूप होकर इसकी उपासना कर सकते हैं। रस का अनुभव तन्मय होकर ही सम्भव है: काव्य, संगीत, चित्र या मूर्ति बनकर ही रसिक इनके रस का आस्वादन करता है। तब फिर हम इनके सौन्दर्य की नाप कैसे करें ?

भरत ने रसानुभूति के आध्यात्मिक आधार को हटाकर मानव-प्रकृति की स्थायी प्रवृत्तियों को आधार माना, जिसके फलस्वरूप सौन्दर्य का प्रश्न दार्शनिक स्तर से नीचे मनोवैज्ञानिक स्तर पर आ गया, जहाँ इसका विश्लेषण सम्भव हो सका। दार्शनिक भाषा के स्थान पर वैज्ञानिक भाषा का प्रयोग हुआ। विभाव, अनुभाव आदि के भेद से रसों में भेद किया गया। यद्यपि भरत ने साहित्य के अन्य अंगों, जैसे अलंकार, गुण आदि का उल्लेख किया, तथापि उसकी साहित्य-समालोचना का मूलाधार रस ही रहा। साहित्य-समालोचना में यह मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण इतिहास के लिए महत्त्वपूर्ण है। इस दृष्टिकोण के दोष हमें जानने आवश्यक हैं जिससे हम अन्यान्य उन मतों को समझ सकें, जो समालोचना के विकास-क्रम में उदित हुए।

(१) यदि साहित्य में सौन्दर्य का रूप केवल रस है और रस की अनुभूति केवल स्थायी प्रवृत्तियों को विभावों द्वारा जाग्रत करके प्राप्त होती है तो सौन्दर्य के अनुभव में अन्यान्य मानसिक क्रियाएँ, जैसे कल्पना, विचार, सामाजिक, नैतिक धारणाएँ आदि को कोई स्थान नहीं मिलता। इससे एक तो साहित्य-सृजन का क्षेत्र संकुचित हो जाता है और दूसरे सौन्दर्य के आस्वादन में केवल भावना का आस्वादन होता है। हमारा सम्पूर्ण व्यक्तित्व, बुद्धि की सम्पूर्ण चेष्टाएँ तथा अन्य आध्यात्मिक अनुभव सौन्दर्य की अनुभूति में सम्मिलित नहीं होते। इसलिए हम सौन्दर्य को केवल भरत का प्रतिपादित किया हुआ 'रस' और 'रस' को केवल भावना का उत्थान और पुष्टि मानने को प्रस्तुत नहीं। केवल प्रवृत्ति को रस का आधार मानने से भावना—

जीवन की पुष्टि और विकास के स्थान पर इनकी तृप्ति को भी रसानुभूति ही स्वीकार किया गया—इतिहास इसका साक्षी है।

(२) केवल 'रस' को सौन्दर्य स्वीकार करके हम सौन्दर्य की अनुभूति में अभिव्यक्ति को उचित महत्त्व नहीं दे पाते। वस्तुतः साहित्य में रसानुभूति के समान ही रसाभिव्यक्ति पर भी बल दिया जाना चाहिए, क्योंकि कला के लिए 'क्या अभिव्यक्त किया जाय ?' के समान ही—या, इससे भी अधिक—'कैसे अभिव्यक्त किया जाय ?' का प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। रस का साक्षात् वर्णन साहित्य में दोष माना जाता है।

(३) स्थायी प्रवृत्ति के उत्थान को 'रसानुभूति' मानकर हम सौन्दर्य के गम्भीर आध्यात्मिक प्रभाव को भूल जाते हैं। वस्तुतः सौन्दर्य का अनुभव केवल मानसिक स्तर तक ही नहीं, आध्यात्मिक स्तर तक जाता है जिसके कारण यह आत्मा की भाँति अमेय हो जाता है और चित्त में अलौकिक चमत्कार उत्पन्न करता है। केवल मानसिक स्तर पर हम 'रस', सुख और तृप्ति में भेद नहीं कर सकते और हम यह देख चुके हैं कि रसानुभूति में सुख से भी अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दुःख, वेदना, वैराग्य और भय के लिए है।

भरत के रस-सिद्धान्त के तीनों दोषों को दूर करने के लिए साहित्य-समालोचना की अनेक धाराएँ प्रवाहित हुईं, जिनका स्वरूप १२वीं शताब्दी तक स्पष्ट हो गया। (क) एक मत ने निश्चय किया कि काव्य का आस्वादन सम्पूर्ण व्यक्तित्व के द्वारा होना चाहिए (अखण्ड बुद्धि समास्वाद्यं काव्यम्।) इसने काव्य-सौन्दर्य के अनेक तत्त्वों का अवगाहन किया, जिसके फलस्वरूप रीति, गुण, अलंकार आदि का विकास हुआ। मानना होगा कि साहित्य-मर्मज्ञों के इन प्रयत्नों से साहित्यिक सौन्दर्य का स्वरूप विशद हुआ और सौन्दर्यानुभूति के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और विवेचन से रीति, गुण, छन्द, अलंकार आदि तत्त्वों के पीछे रहने वाली अनेक मानसिक क्रियाओं का पता चला। (ख) 'रस' के स्थान पर 'रसास्वादन' की मानसिक क्रिया के स्पष्ट करने के लिए 'ध्वनि', 'वक्रोक्ति' और 'काव्यानुमिति' का आविष्कार हुआ। साहित्य में रसाभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त सामग्री की खोज हुई जिससे

अधिक-से-अधिक 'चर्वणा' उत्पन्न हो सके। साहित्य में सौन्दर्य की नाप 'चर्वणा' के आधार पर प्रारम्भ हुई और अलंकार, गुण आदि को 'चर्वणा' के लिए उचित सामग्री का रूप दिया। (ग) सौन्दर्यानुभूति के आध्यात्मिक आधार को स्पष्ट करने के लिए 'चमत्कार' का आविष्कार हुआ और इसे रसानुभूति का सार माना गया। चमत्कार का अर्थ आनन्द का वह अनुभव स्वीकार किया गया जिसमें रसयिता मन, प्राण, बुद्धि के बन्धनों से निर्मुक्त होकर अपने ही आनन्द-स्वरूप का अनुभव करता है। इस मत ने रस, ध्वनि, अलंकार, गुण आदि को काव्य-सौन्दर्य के अंग माना और इनको चमत्कार की उत्पादक सामग्री स्वीकार करके इनके परस्पर सम्बन्ध का निश्चय किया।

'चमत्कार', 'चर्वणा', 'अलंकार' आदि के आविष्कार से सौन्दर्य का स्वरूप विशद हुआ, किन्तु इसके नापने के लिए किन्हीं निश्चित मानदण्डों का आविष्कार नहीं हुआ। केवल 'सहृदय' रसिक की अनुभूति को सौन्दर्य का मानदण्ड मान लिया गया। इसमें सन्देह नहीं कि अन्ततोगत्वा 'सहृदय' का अनुभव ही 'रस' की माप है, किन्तु 'सहृदयता' का स्वयं निश्चित स्वरूप तो होना ही चाहिए जिससे सौन्दर्य के विषय में निर्विवाद निर्णय किया जा सके। ध्वनिकार और पण्डितराज जगन्नाथ ने इस 'सहृदयता' के स्वरूप का विचार करते हुए सौन्दर्य को नापने के लिए कुछ सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। 'सहृदयता' सौन्दर्य को अवगाहन और आस्वादन करने की क्षमता का नाम है जिसके लिए रसिक को कवि की कारयित्री प्रतिभा के समान भावयित्री प्रतिभा का वरदान प्राप्त होना चाहिए। सहृदय व्यक्ति रस के आस्वादन में सम्पूर्ण अनुभूतियों का सामञ्जस्य और परिपाक चाहता है: वह असामञ्जस्य को असत्य की भाँति सहन या स्वीकार नहीं कर सकता। अनुभूतियों का सामञ्जस्य ही साहित्यिक सौन्दर्य का सत्य है। इस विचार के आधार पर 'अङ्गाङ्गि भाव' या 'रसाङ्गता' के सिद्धान्त का आविष्कार हुआ। यदि साहित्य में किसी अनुभूति का परिपाक होता है और साहित्यकार के शब्दार्थ, उसकी कल्पना, योजना, भावना, शैली आदि अनेक उपकरण इस अनुभूति को सजीव और परिपुष्ट बनाते हैं तो वह साहित्य सुन्दर है और उसी सीमा तक सुन्दर है

जिस सीमा तक साहित्यकार अनेक अंगों और उपकरणों के आयोजन से समन्वित अनुभूति उत्पन्न करने में सफल हुआ है। परन्तु यह कब सम्भव है? पण्डितराज के अनुसार उसी समय जब कलाकार प्रत्येक अंग के आविष्कार के लिए पृथक् प्रयत्न नहीं करता, प्रत्युत सम्पूर्ण साहित्य एक ही प्रयत्न में जन्म लेता है। साहित्य का जन्म 'अवतार' की भाँति ही 'सशंखचक्रं सकिरीटकुण्डलं, सपीतवस्त्रं सरसीरुहेक्षणम्' होता है, उसमें ऊपर से आवरण और अलंकार लादने की आवश्यकता नहीं होती। साहित्यिक सौन्दर्य की माप के लिए ये मापदण्ड आज भी हमें स्वीकार्य हैं।

(३)

पश्चिम में साहित्य-समालोचना की दिशा हमसे कुछ भिन्न रही है। इसका प्रारम्भ यूनान देश में प्लेटो और अरस्तू से भी पूर्व हो चुका था और यूनानी साहित्य में उस समय भी संसार के सर्वश्रेष्ठ काव्य और दुःखान्त नाटक विद्यमान थे। अरस्तू ने विश्लेषण-प्रधान शैली का आविष्कार किया और काव्य, नाटक आदि के विभिन्न अंगों और उनकी एकसूत्रता का प्रतिपादन किया। उसका सौन्दर्य के सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय था कि सुन्दर वस्तु में 'अनेकों की एकता' (Unity in diversity) होनी चाहिए। प्रभाव के विषय में अरस्तू के अनुसार दुःखान्त नाटक से भावना का तीव्रतम उद्रेक होना चाहिए जिससे रसिक आवेग का वेग शान्त होने पर अद्भुत सुख का अनुभव करता है। इस प्रकार सौन्दर्य के सम्पूर्ण अनुभव में आकार और वस्तु, इन दो तत्त्वों और इनके आधारभूत सिद्धान्तों का आविष्कार हुआ।

रोमन कवियों और नाटककारों ने यूनानी आदर्शों को ग्रहण किया; वेदना को और भी तीव्र बनाने के लिए उर्वर कल्पना से अनेक लोकों और पुरुषों की सृष्टि की। साहित्यिक सौन्दर्य का आदर्श वही आकार में 'अनेकों की एकता' और प्रभाव में भावना की तीव्रता रहा। ईसाई-धर्म के विकास से आध्यात्मिक प्रभावों का समावेश हुआ। गोथिक गिरजों के निर्माण के साथ जिस मध्यकालीन सन्त-साहित्य का विकास हुआ उसमें भारतीय सन्त-साहित्य की भाँति मार्मिकता, जीवन की उदारता और उच्चता की भावनाएँ विद्यमान

हैं। वैदिक साहित्य में जिस 'सहज' सौन्दर्य का रस मिलता है, भारतीय सन्त-साहित्य में हृदय-स्पर्शी होकर जो सहज सौन्दर्य फिर से आविर्भूत हुआ है, उसी का स्वाद मध्यकालीन यूरोपीय सन्तों की वाणी में विद्यमान है। किन्तु वैदिक साहित्य में जिस सहज आह्लाद, जीवन के लिए निर्मुक्त उत्साह और आध्यात्मिकता का प्राचुर्य है, वह भारतीय सन्त-साहित्य में निवेद, निवेदन, दीनता के भावों से दब गया है और यूरोप के तत्कालीन साहित्य में तो इन भावों का ही प्रावल्य है। विज्ञान और गवेषणा का युग प्रारम्भ होने पर जहाँ ईसाईयत का विरोध हुआ, जीवन में नवीन आदर्शों का उदय हुआ, साथ ही साहित्य में भी नवीन प्रगतियों ने जन्म लिया, सृजन के लिए नूतन और प्रबल प्रेरणा मिली। इस प्रेरणा का मूलोद्गम जीवन में आध्यात्मिकता न थी, प्रत्युत इसका अभाव था। फलस्वरूप यूनानी आदर्शों का साहित्य में फिर से आविर्भाव हुआ। साहित्य में 'आकार' पर एक ओर बल दिया गया जिससे 'अनेकों की एकता' के सिद्धान्त को अनेक प्रकार से सिद्ध करने के लिए नवीन कौशलों का आविष्कार हुआ। 'प्रभाव' को तीव्र और वेदना को प्रखर बनाने के लिए यूनानी देवताओं के लोक को त्यागकर प्रकृति को स्थान मिला। परन्तु प्रकृति में दिव्यता है। इसलिए इसे भी त्यागकर मानव-जीवन को ही प्रखर वेदनाओं की मूलभूमि स्वीकार किया गया। मानव-जीवन की यथार्थता में, उसकी सामाजिक, नैतिक आदि समस्याओं और परिस्थितियों में ही, साहित्य के लिए उचित प्रभावोत्पादक सामग्री मिल सकती है—बस यहीं से अर्वाचीन यूरोपीय साहित्य का प्रारम्भ—सम्भवतः अन्त भी—होता है।

समीक्षा की भरमार होते हुए भी साहित्यिक सौन्दर्य का आदर्श अभी तक यूनानी परिभाषा की सीमाओं को पार नहीं कर सका है। इसी परिभाषा के अन्तर्गत जिन नवीनताओं का उदय हुआ है नीचे हम उनका संकेत इसलिए करते हैं कि इनसे हमारी विचार-धारा प्रभावित हुई है।

(क) वेदना को प्रखर बनाने के लिए यथार्थवाद को ग्रहण किया है। यद्यपि यथार्थवाद आधुनिक विज्ञान की उपज है, तथापि साहित्य में इसका उपयोग प्रभाव को तीव्र बनाने के लिए किया गया है। अब हमें प्रखर वेदना

के लिए देवों के लोकों की कल्पना नहीं करनी है जैसा कि यूनान के साहित्यिकों और कीर-काव्य के कवियों को करना पड़ा। हमारे लौकिक जीवन और इसकी दैनिक परिस्थितियों में तीव्र अनुभूति के लिए प्रचुर सामग्री विद्यमान है। हमारे युग में 'यथार्थ' ही सुन्दर है, अयथार्थ असुन्दर है। यथार्थ ही आदर्शों का निश्चय और निर्माण करता है। यथार्थवाद आदर्श का विरोधी नहीं, विधायक और नियामक है।

(ख) 'साहित्य मानवता की यथार्थ अभिव्यक्ति है।' इस मानवता में जीवन के सभी पहलू सांगोपांग सम्मिलित हैं—इसकी आशा और दुराशा, इसकी अच्छाइयाँ और दुर्बलताएँ, इसके पश्चात्ताप और सत्संकल्प आदि। मानवता साहित्यिक सौन्दर्य की कसौटी है। मानवता-रहित साहित्य सुन्दर नहीं होता। इस नवीन आदर्श को अपनाते साहित्य में कई नवीन प्रगतियों का उदय हुआ है, जैसे—(१) भाषा और प्रयोग की सरलता की ओर झुकाव, (२) स्थूल, इन्द्रिय-ग्राह्य तथा भोग योग्य कल्पना का उपयोग concrete, gross and voluptuous imagery, (३) संक्षिप्त, स्पष्ट, सरल, आश्चर्यजनक नवीनताओं की खोज, (४) साहित्य में 'सनसनी' (sensation) का महत्त्वपूर्ण स्थान, (५) नैतिक और धार्मिक भावनाओं का आर्थिक, सामाजिक तथा मानसिक समस्याओं से प्रतिद्वन्द्व और इनकी विजय।

(ग) साहित्य में बौद्धिक तत्त्वों का समावेश हुआ है, यद्यपि 'भावना' का अभाव नहीं हुआ, प्रत्युत उसका प्रभाव अपेक्षाकृत व्यापक हो गया है। तर्क और भावना का संघर्ष वर्तमान साहित्य की मुख्य ध्वनि है।

(घ) साहित्य और जीवन का सम्बन्ध अब घनिष्ठ है। जीवन में एक ओर व्यक्ति और दूसरी ओर समाज है। जीवन की सामूहिक चेतना से वर्तमान साहित्य ऊर्मिल है और साहित्य की नूतनतम दिशा तो सामूहिक चेतन-स्तर को भेदकर समष्टि अचेतन (Collective unconscious) की ओर जा रही है। वस्तुतः वर्तमान कला और साहित्य इसी अचेतन, किन्तु जीवन की आधार-भूमि और प्रबल प्रेरक शक्ति के स्वरूप की खोज में लगे

हैं। इसकी अभिव्यक्ति के लिए जहाँ एक ओर नवीन अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं का उदय हो रहा है वहाँ नवीन प्रतीकों द्वारा साहित्य और कला इस अभिव्यक्ति को सुन्दर बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि हमारे युग में साहित्य सृजन के लिए प्रचुर सामग्री प्राप्त है। इस सामग्री से 'सौन्दर्य' सृजन करने के लिए यूनानी परिभाषा, जिसमें आकार (Form) और प्रभाव या वस्तु (Matter) दोनों का समावेश है, आज भी सम्मान्य है। इसके अतिरिक्त साहित्य में सौन्दर्यावगाहन की दो अन्य दिशाएँ और स्पष्ट हो चली हैं। (क) **उपयोगितावाद**, जिसके अनुसार कोई रूप, योजना, प्रयोग अथवा अलंकार आदि इसीलिए और उसी सीमा तक सुन्दर प्रतीत होता है जिस लिए और जिस सीमा तक वह उपयोगी है। वस्तु की उपयोगिता ही उसके सौन्दर्य का मूल और माप है। कहानी और नाटक-साहित्य में परिवर्तन और भाषा के प्रयोग में सरलता तथा भावों की स्पष्टता आदि इसी उपयोगिता-सिद्धान्त के फल हैं। (ख) **रहस्यवाद**, उपयोगिता की विपरीत दिशा में एक नूतन रहस्यवाद का उदय हो रहा है जिसके अनुसार प्रत्येक प्रयोग, अलंकार और रूप हमारे सादि और सान्त जीवन में किसी अनादि और अनन्त जीवन की झाँकी उत्पन्न करते हैं। विज्ञान और विशेषतः मनोविज्ञान ने अनुभव की प्राचीन सीमाओं को इतना विस्फारित कर दिया है कि साहित्य केवल 'ससीम' की प्रतीति उत्पन्न करके रसिक को प्रसन्न नहीं कर सकता, प्रत्युत उसे असीम सत्ता, असीम व्यक्तित्व और जीवन के अनन्त और अनादि प्रवाह का रहस्यमय उद्घाटन अनेक संकेतों के द्वारा करना अभीष्ट हो गया है।

(४)

हमारे देश के वर्तमान साहित्य में पश्चिम और पूर्व की दोनों विचार-धाराएँ आकर मिल गयी हैं, फलस्वरूप साहित्य-समीक्षा में कई नवीन दृष्टि-कोणों का उदय हुआ है : (क) रस, ध्वनि, अलंकार सिद्धान्तों का पुनरुत्थान, (ख) विश्लेषण-प्रधान मनोवैज्ञानिक समीक्षा, (ग) विकासवाद को

आधार मानने वाली ऐतिहासिक समीक्षा, (घ) यथार्थवाद, उपयोगितावाद, समाजवाद, प्रगतिवाद आदि पर आश्रित वैज्ञानिक समीक्षा, (ङ) साहित्य में दार्शनिक तत्त्वों का अवगाहन करने वाली दार्शनिक समीक्षा।

उक्त समीक्षा के प्रकारों में सौन्दर्य की दृष्टि से साहित्य का मूल्यांकन अभी स्पष्ट धारा के रूप में प्रारम्भ नहीं हुआ। इस दृष्टि से समीक्षा के लिए हमें निम्नलिखित योजना पर काम करना उचित होगा—

(१) चित्र, संगीत, मूर्ति तथा स्थापत्य आदि कलाओं में सौन्दर्य के जिन नवीन आदर्शों का आविष्कार हो रहा है, साहित्य-समीक्षकों को उनके अध्ययन से साहित्य में 'सौन्दर्य' का स्वरूप निश्चय करना चाहिए। एक युग की सौन्दर्य-चेतना कलाओं के माध्यम से व्यक्त होती है। अतएव साहित्य अन्य कलाओं के विकास से प्रभावित न हो, यह उचित नहीं है और न यह सम्भव ही हो सकेगा।

(२) भरत के रस-सिद्धान्त का आधारभूत जो मानसिक विश्लेषण था जिसके अनुसार विभाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि का निरूपण हुआ था, वह विश्लेषण आधुनिक मनोविज्ञान के विकास से बहुत पुराना, अधूरा और अवैज्ञानिक प्रतीत होता है। 'रसानुभूति' के मानसिक कारणों तथा इसके विश्लेषण के पुनः अध्ययन करने से जहाँ विभाव आदि की परिभाषा बदल जाती है वहाँ 'रस' की भी नवीन परिभाषा करनी आवश्यक प्रतीत होती है। 'रस' और 'आनन्द' की नवीन परिभाषा से साहित्य में सौन्दर्यावगाहन का स्वरूप ही बदल जायगा।

(३) मनोविज्ञान के आधुनिक विकास से अलंकार, रीति, छन्द, लय आदि साहित्य के अवयवों का अध्ययन पुनः होना चाहिए। इससे इनके मानसिक प्रभावों की गवेषणा होगी और 'सौन्दर्यानुभूति' में इन प्रभावों के लिए उचित स्थान और कार्य निश्चय हो सकेगा।

(४) चरम मनोविज्ञान ने जीवन की अचेतन प्रेरणाओं और इसकी अभिव्यक्तियों का अध्ययन किया है। 'अचेतन' की अभिव्यक्ति प्रतीकों के

द्वारा होती है। 'प्रतीक' स्थूल द्वारा सूक्ष्म की प्रतीति उत्पन्न करने का साधन है। वर्तमान समय में जहाँ धर्म, नीति, समाज आदि का अध्ययन प्रतीकवाद के आधार पर हुआ है, वहाँ कला में भी यह प्रारम्भ हो चुका है। साहित्यिक अभिव्यक्ति में प्रतीक का स्थान अत्यन्त महत्व का है। वस्तुतः पन्त, निराला, महादेवी वर्मा आदि आधुनिक साहित्यिकों की कृति को रस, ध्वनि आदि के आधार पर नहीं समझा जा सकता।

(५) एक ओर साहित्य में भोग, रूप तथा अभिव्यक्ति के मानसिक और आध्यात्मिक प्रभावों का अध्ययन आवश्यक है तथा संवाद, सामञ्जस्य, सापेक्षा, सन्तुलन आदि सौन्दर्य के सनातन सत्यों का पुनः निरूपण उचित है तो दूसरी ओर रसिक में 'व्यक्तित्व', इसके स्वरूप, सीमाओं, आधारों और आकांक्षाओं का अध्ययन भी उतना ही महत्वपूर्ण है, कारण कि सौन्दर्या-स्वादन में सुन्दर वस्तु और रसयिता दोनों का ही समान स्थान है। रसिक के व्यक्तित्व के अध्ययन से रस और रसास्वादन दोनों के स्वरूप स्पष्ट हो सकेंगे।

उपर्युक्त योजना को आधार मान कर हम साहित्यिक सौन्दर्य की समीक्षा के लिए निम्नलिखित मानदण्डों को उपस्थित कर सकते हैं—

(१) यह विदित रहते हुए भी कि सौन्दर्य के मूलभूत सिद्धान्त नहीं बदल सकते, यह निश्चय है कि हम इसकी सामग्री, योजना, रसास्वादन आदि में भारी परिवर्तन देखते हैं। आज हम साहित्य में सौन्दर्य की समीक्षा करते समय सौन्दर्य की सृष्टि जिस सामग्री से की जाती है उस सामग्री को नहीं छोड़ सकते। आज यह सामग्री इतनी प्रचुर, इतनी विस्तृत और इतनी गम्भीर है कि हमारे आस्वादन में इसका अवश्य प्रभाव पड़ता है। एक ओर समस्त बाह्य जगत् और विज्ञानों के अनुसन्धानों द्वारा विस्फारित किया गया अनन्त और अद्भुत प्रकृति का अन्तराल, दूसरी ओर वर्ग, देश, धर्म, जाति आदि की सीमाओं को पार करके मानवता का उदय, तीसरी ओर मनुष्य के सीमित, अचेतन व्यक्तित्व के नीचे असीम, अचेतन सत्ता की आधार-शिला का आविष्कार; जिससे हमारी कलात्मक, सामाजिक, नैतिक और धार्मिक

विचार-धारा में क्रान्ति का प्रारम्भ, चौथी ओर जटिलता के कारण जीवन में भयंकर संघर्ष की भावना। इस चतुर्दिक जीवन के उद्गार के अवसर पर साहित्यिक सौन्दर्य का अन्तराल भी व्यापक होना चाहिए और इस सौन्दर्य की माप इस अन्तराल की व्यापकता के अनुसार होनी चाहिए। हमारा बहुत-सा अधपका कहानी, उपन्यास और कविता-साहित्य इस व्यापक जीवन के उद्गार से विलकुल अपरिचित-सा प्रतीत होता है।

(२) सामग्री के भिन्न होने से 'रस' का प्राचीन पारिभाषिक अथवा पीछे का परिमार्जित रूप अनुपयुक्त हो गया है। केवल भावों का उद्रेक 'रसानुभूति' नहीं है, अपितु जीवन के विभिन्न और कभी-कभी विरोधी उद्गारों में सामञ्जस्य की भावना ही रसानुभूति है। यहाँ तक भी सत्य है कि कभी-कभी सामञ्जस्य, संवाद और एकता उत्पन्न करना विरोधी उद्गारों में सम्भव ही नहीं प्रतीत होता। उस समय असामञ्जस्य, रूप का अभाव और संघर्ष की प्रचण्डता ही 'रस' का अनुभव उत्पन्न करती है। वर्तमान अमरीकी साहित्य में जहाँ 'सामञ्जस्य' उत्पन्न करने का प्रयत्न है, वहाँ 'क्रान्ति' का अनुभव करने वाले देशों में 'असामञ्जस्य' ही सौन्दर्यानुभूति की मूल भूमि है इस सामञ्जस्य का अनुभव हम भावना के स्तर पर ही केवल नहीं करते, वरन् बौद्धिक स्तर पर अधिक करते हैं। इसलिए साहित्यिक रसानुभूति में भाव-प्रवणता की अपेक्षा विचार-प्रवणता अब अधिक है। सत्य तो यह है कि रसानुभूति एक विशेष 'बौद्धिक भावना' (Intellectual Feeling) है चाहे मनोविज्ञान इसे स्वीकार न करे। सौन्दर्य की माप इसी भावना की प्रखरता, स्पष्टता और परिपाक के आधार पर होनी चाहिए।

(३) साहित्य में सामग्री और रस की व्यापकता के कारण अब कल्पना का कार्य केवल साधर्म्य की खोज करके अलंकारों की सृष्टि करना नहीं रह गया है, अपितु इस सामग्री की शब्दार्थ में अभिव्यक्ति के लिए उचित और सबल प्रतीकों का आविष्कार करना है। मानना होगा कि आज के साहित्य में अभिव्यक्ति का एक-मात्र साधन 'प्रतीक' है। जिस प्रकार बीते युगों में

धार्मिक भावना की अभिव्यक्ति के लिए मन्दिर, देवता, अवतार, नवधा भक्ति और अनेक भक्तों का आविष्कार हुआ था, उसी प्रकार इस युग की चेतना को व्यक्त करने के लिए नवीन प्रतीकों का सृजन होना चाहिए। साहित्यिक सौन्दर्य की माप के लिए इन प्रतीकों की स्पष्टता, उपयुक्तता तथा सबलता की नाप होनी चाहिए।

(४) रसिक में रसानुभूति के प्रभाव को नापना भी आवश्यक है। ये प्रभाव दो प्रकार के हैं—(क) निषेधात्मक प्रभाव यह है कि साहित्य में रूप, भोग, सामग्री का संघटन आदि किस सीमा तक रसिक को उसकी मनोग्रन्थियों से मुक्त करने में सफल होते हैं। 'मनोग्रन्थि' आधुनिक मनोविज्ञान की खोज है; इनसे दुःख, जटिलता आदि कष्ट उत्पन्न होते हैं। सौन्दर्य का प्रभाव संगीत की भाँति इन ग्रन्थियों को खोलने में समर्थ होना चाहिए। (ख) विधानात्मक प्रभाव यह है कि रसिक का व्यक्तित्व जीवन के लिए नवीन प्रेरणा और उत्साह पा सके, बुद्धि के लिए नवीन प्रकाश और कल्पना के लिए नूतन दिशाएँ मिल सकें। रसिक के ऊपर पड़ने वाला यह प्रभाव भी सौन्दर्यानुभूति का मानदण्ड है।

(५) कोई भी अनुभूति हो, उसमें उदय, विकास, परिपाक और निर्वाह का क्रम रहता है। यदि उदय से परिणाम तक सारी अनुभूति शब्दार्थ के साहित्य से 'रस' के प्रभाव को उत्पन्न करती है तो वह सौन्दर्य की अनुभूति है। साहित्यिक सौन्दर्य के मूल्यांकन में इस अनुभूति की व्यापकता, सत्यता, स्वाभाविकता तथा क्रम-विकास आदि का अध्ययन करना चाहिए। किन्तु स्मरण रहे कि अनुभूति का क्रम विकास यद्यपि साहित्य को 'रूप' प्रदान करता है तथापि नवीनता की खोज करने वाले युग में साहित्यिक कलाकारों ने अनेक कौशल्यों का आविष्कार किया है, जिसमें क्रम-विकास के स्थान पर 'आश्चर्य', 'विग' आदि का उद्रेक हो। इससे समाचार-पत्रीय साहित्य में चटकीलापन और चुलबुलाहट आ गये हैं। हम इसे शास्त्र की दृष्टि से 'सुन्दर' कहने में हिचकते हैं। वस्तुतः यह केवल मनोरञ्जन का साहित्य है। किन्तु इस साहित्य के परिपाक से निश्चय ही नवीन साहित्यिक 'रूपों' का विकास सम्भव है।

ऊपर किया गया विवेचन केवल सौन्दर्य के सामान्य मानदण्डों की रूपरेखा प्रस्तुत करता है, जिनका हम साहित्यिक मूल्यांकन में उपयोग कर सकते हैं। किन्तु जिस प्रकार 'सामान्य सौन्दर्य' केवल शास्त्रीय सिद्धान्तों का नाम है, वस्तुतः सौन्दर्य प्रत्येक कला में स्वकीय रूप में ही प्रकट होता है, उसी प्रकार 'साहित्यिक सौन्दर्य' का सामान्य रूप भी केवल कुछ सिद्धान्तों का संगठित रूप है, वस्तुतः यह सौन्दर्य कहानी, उपन्यास, काव्य, नाटक आदि अनेक रूपों में व्यक्त होता है। यहाँ तक भी सत्य है कि यह सौन्दर्य प्रत्येक कहानी, प्रत्येक काव्य में निराला ही रहता है। वस्तुतः मूल्यांकन के सामान्य सिद्धान्तों का उपयोग इन्हीं के सम्वन्ध से सिद्ध हो सकता है—वैसे तो ये केवल शास्त्र की शोभा-मात्र हैं।

अर्थ और अभिप्राय

साहित्य और कला में भेद किया जाता है। इनकी भेदक रेखा क्या है? या, ये सृजन के दो सम-सीमान्त प्रदेश हैं जिनमें एक को दूसरे से अलग करना कठिन है? कुछ भी हो, इनके भेद का आधार होना चाहिए। वह क्या है: यही प्रस्तुत निबन्ध में विचार करने का प्रयत्न है।

हमारा निवेदन है कि साहित्य का मूलाधार अर्थ (Meaning) है जिसकी अभिव्यक्ति के लिये शब्द का पार्थिव माध्यम स्वीकार किया जाता है। कला का मूलाधार अभिप्राय (Motif) होता है जिसके शरीरीकरण के लिये स्वर, वर्ण, रेखा से लेकर लकड़ी, पत्थर, मिट्टी आदि का उपयोग किया जाता है। साहित्य और कला 'सृजन' के दो प्रकार हैं। जहाँ कहीं 'सृजन' होता है, और, वह भी मानव-माध्यम के द्वारा, वहाँ 'पार्थिव' और 'अ-पार्थिव', 'अन्तर' और 'बाह्य', आत्मा और अनात्मा, जड़ और चेतन, किसी मायिक, अज्ञात और अज्ञेय कारण से, मिलते हैं। साहित्य में ये दो तत्त्व 'अर्थ' और 'शब्द' हैं, कला में ये 'अभिप्राय' और कोई पार्थिव द्रव्य होते हैं। या, इसे यों भी कहा जा सकता है कि साहित्य-सृजन में शब्द 'अर्थ' के लिये 'वाहन' होते हैं और, कला-कृति में स्वरादि माध्यम कला के 'अभिप्राय' को बहन करते हैं।

प्रश्न यह है कि 'अर्थ' और 'अभिप्राय' (Meaning and Motif) क्या पदार्थ हैं?

अर्थ बुद्धि की उपज है; एक प्रकार की आन्तरिक ज्योति उसमें रहती है। तर्क, युक्ति या विचार तथा ऊहापोह के द्वारा अर्थ उत्पन्न होता है। उस समय चिंतक को श्रम होता है। परन्तु कभी-कभी प्रतिभा के बल से,

बिना तर्क या ऊहापोह के भी, कोई महान अर्थ विलक्षण ज्योति को लेकर बुद्धि में उदित हो जाता है। हम इसके रहस्य में न जायेंगे, परन्तु मनो-विज्ञान भी आज यह स्वीकार करता है कि कभी कभी किसी ज्योतिष्मान् अर्थ का उद्घाटन अकस्मात् स्फोट की भांति होता है। स्यात्, यह अकस्मात् प्रतीत होने वाला अर्थ-ज्योति का विस्फोट दीर्घकालीन तपः-साधना का फल हो या अचेतन के प्रयत्नों का संचित परिणाम। यह अन्तर्ज्योति को आलोकित करती है जिससे वह समझने और समझाने योग्य हो जाता है। अर्थ इस प्रकार बौद्धिक और बुद्धिगम्य पदार्थ है। इसके ग्रहण करने या उपजाने में, चाहे श्रम हो न हो, आनन्द अवश्य होता है, जैसा किसी गणित के प्रश्न को हल करने पर, या शास्त्र-विज्ञान की किसी समस्या को सुलझा लेने पर। अर्थ को वाक्य में व्यक्त किया जा सकता है; वाक्य उद्देश्य और विधेय में सम्बन्ध स्थापित करता है। उद्देश्य-विधेय-सम्बन्ध प्रत्यक्ष अनुभव के बल पर खड़ा हो सकता है, जैसे, हवा ठंडी है। तर्क का आधार पकड़ सकता है, जैसे, पृथ्वी गोल है, क्योंकि सभी आकाश-पिण्ड गोल है, इत्यादि और 'सम्भावित' के सहारे, या सम्भावित और प्रत्यक्ष दोनों के सहारे ग्रहण किया जा सकता है, जैसे, क्रमशः 'अस्ति गोदावरीतीरे विशालः शालमली तरु' या 'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः'। हम विश्वास, कल्पना, कल्पित-विश्वास (make-believe), धर्म-श्रद्धा या अन्य प्रकार की श्रद्धा आदि के सहारे भी अनेक अर्थों का सृजन व ग्रहण करते हैं। अर्थों में परस्पर सम्बन्ध होता है। उनमें निष्कर्ष और आधार का सम्बन्ध हो सकता है, जैसा कि तर्क या विचार में होता है। अर्थों की परस्पर 'संगति' या एकात्मता से सत्य की प्रतीति उत्पन्न होती है। संगति तार्किक भी हो सकती है, जैसा वैज्ञानिक साहित्य में होता है; सम्भावित अर्थों में भी संगति हो सकती है, जैसा कि उपन्यासों में होता है। बुद्धि अनेक अर्थों की संगति ग्रहण करके 'प्रसन्न' होती है। इसे 'सत्य' का प्रसाद कह सकते हैं। जो कुछ भी देखने, सुनने, सम्भावना के योग्य, क्रिया व व्यवहार का आधार होने योग्य, या समझने-समझाने योग्य हो, वह 'अर्थ'

का रूप धारण कर सकता है। इसीलिए हमारी 'अनुभूति' का बहुत अंश अर्थों के रूप में, और तदनन्तर शब्दों के रूप में अभिव्यक्त होता है। अतः कहा गया है कि वाणी का विस्तार अनन्त है : जो कुछ भी जगत् में या मन में है वह वाणी में भी मौजूद होता है। इसका परिणाम यह होता है कि शब्दों के द्वारा अनेक रूप-रस-गन्ध-स्पर्श तथा अनन्त वर्ण, छवि, आकार वाले संसारों का निर्माण सम्भव हो जाता है। अनन्त चेतना से आविर्भूत होने के कारण 'अर्थ' की इयत्ता नहीं, शब्दों की सीमा नहीं। अतएव साहित्य का विस्तार भी अनन्त है।

परन्तु अर्थ की सीमा है बुद्धि, और शब्द में अभिव्यक्त होने की योग्यता। अर्थात्, अर्थ हमारी अनुभूति का वह रूप है जो बुद्धिगम्य और शब्द द्वारा अभिव्यक्त हो। यह आवश्यक नहीं कि हमारी सम्पूर्ण अनुभूति 'अर्थ' का रूप ग्रहण कर सके, और शब्दों में प्रकट की जा सके। एक सरल और साधारण अनुभूति को ही लीजिये : गुड़ मीठा है—यह हम चख कर क्षण भर में जान सकते हैं। किन्तु बिना चखे गुड़ के मिठास को समझने और समझाने का प्रयत्न कीजिये, उपयुक्त शब्दों की खोज कीजिये जिनके द्वारा यह मिठास की अनुभूति व्यक्त की जा सके। यह होगा कि बहुत कुछ कह चुकने पर भी, गुड़ के कणों का वैज्ञानिक विश्लेषण कर देने पर भी, एक क्षण में सम्पन्न होने वाले गुड़ के अनुभव को हम न पा सकेंगे। कारण यह है कि मिठास का ग्रहण बुद्धि का काम नहीं है; वह इससे अधिक व्यापक, इसकी मूलभूत और आदिम (Primitive) चेतना से ग्रहण किया जाता है। इसी प्रकार इन्द्रिय-प्रणालिकाओं द्वारा रूप, रस, गन्ध-स्पर्श-शब्द आदि की जो संवेदनाएँ हमें बाहर से, दुःख-सुख, वेदना-प्रेम, राग-द्वेष, ईर्ष्या, आशा-निराशा, उल्लास-उत्साह, उमंग-आह्लाद आदि के भाव जो 'अपने' अन्तर से, हमें मिलते हैं, उनका विश्लेषण न हो सकने के कारण बुद्धि ग्रहण करने में असमर्थ होती है। जिन अनुभूतियों को बुद्धि ग्रहण करने में, एक न एक कारण से, असमर्थ होती है और जिनकी शब्दाभिव्यक्ति या तो असम्भव है या केवल परछाई की तरह झीनी, उन अनुभूतियों को उत्पन्न करना कला

का प्रयास होता है। कला का यह प्रयास सप्रयोजन और सोद्देश्य होने के कारण उसका 'अभिप्राय' कहा जा सकता है।

इतिहास साक्षी है कि साहित्य और विज्ञान से पूर्व कला का अवतार हुआ। मनुष्य ने सभ्यता और संस्कृति के उदय से भी पहले नाचना, गाना, शिलाओं पर आलेखन करना, मिट्टी आदि से वस्तुओं का बनाना, शरीर की सज्जा करना प्रारम्भ किया था। तर्क और विचार का प्रयोग तो बहुत बाद की चीज है। कला आदिम जीवन में प्रारम्भ हुई और उसमें वही आदिमता (Primitiveness) आज भी वैसी है। संस्कृति और सभ्यता, विज्ञान और इतिहास के विकास ने, कला को नवीन क्षेत्र व क्षितिज, नूतन सामग्री व उपकरण, दिशा व परिस्थिति, आदि प्रदान करके उसका परिष्कार और विस्तार किया है। किन्तु कला की मूल-प्रेरणा व मूल-प्रभाव में अन्तर नहीं हुआ है और न होगा; क्योंकि वह बुद्धि और शब्दों से अगम्य भावों तक हमें ले जाने की अचूक विधा है। वह हमें अपनी चेतना व अनुभूति के मूल तक ले जाती है, वह मूल-सत्ता में आन्दोलन पैदा करती है; व्यवहार की आवश्यकताओं से जड़ीभूत, अवरुद्ध जीवन व उल्लास के नूतन स्रोतों को खोलती है। यदि कला का व्यापार केवल बुद्धि तक ही सीमित होता है तो उसका महत्त्व आज बिल्कुल कम हो जाता। किन्तु बुद्धि के उस पार हमारे अस्तित्व की तरल, सरल, उल्लासपूर्ण धारा बहती है। सम्भवतः बुद्धि उसके किनारे पर ले जाकर हमें खड़ा कर दे। किन्तु इसमें स्नान, पान, अवगाहन कराने के लिये एक सूक्ष्म उपकरण की आवश्यकता होती है, और वह है कला का प्रभाव और उस प्रभाव को हृदय से ग्रहण करने की क्षमता।

पीपल के चल किसलय-दल को देखिये और या एक अविरल, स्वच्छ स्रोत के प्रवाह को। इनके सम्पूर्ण प्रभाव को इन्द्रिय-कुल्याओं में भरकर यदि बुद्धि ग्रहण करने लगे तो वह शीघ्र ही विना तैरना जानने वाले प्राणी की तरह कुछ देर कुलबुलाकर डूब जायगी। हम अपने सम्पूर्ण अस्तित्व से, ज्ञान व व्यवहार की आवश्यकताओं से उन्मुक्त और लाभ-हानि, हार-

जीत की उत्तेजनाओं से छूटकर ही, उस प्रभाव को ग्रहण करने में समर्थ होते हैं। इस 'प्रभाव' को सौन्दर्य कहते हैं जिससे हमें 'रस' का लाभ होता है। प्रकृति में अक्षय और अनन्त सौन्दर्य है। कला मानव-माध्यम से इसकी सृष्टि करती है। सौन्दर्य कला का 'अभिप्राय' (Motif) कहा जा सकता है, अर्थ नहीं। कला का स्वकीय प्रयोजन इसी 'अभिप्राय' को उत्पन्न करना, इसी की अभिव्यक्ति करना है। इस दृष्टि से हम कला को अर्थ-शून्य, साभिप्राय कह सकते हैं और साहित्य को निरभिप्राय और अर्थवान् माना जा सकता है।

संगीत में स्वरों के वितान, गति, संवाद, आदि का क्या अर्थ हो सकता है जिसे बुद्धि ग्रहण कर सके? संगीत के आचार्यों ने इसकी 'व्याकरण' बनाई है, वाद उठाये हैं और विवाद किये हैं। किन्तु यह व्याकरण जिस अनुभूति का नाम 'संगीत' है उससे कोसों दूर है। संगीत जिस स्वरों से निर्मित 'स्वर्ग' का नाम है, जिस विन्यास, रूप, लय आदि को हम अनुभूति के रूप में ग्रहण करते हैं, वह एक प्रबल 'प्रभाव' है जिसे हम, बुद्धि से ऊपर उठकर, अपने जीवन की आदिम चेतना से ग्रहण करते हैं। इस प्रभाव से मन की ग्रन्थियाँ, बुद्धि के संशय, जीवन के उत्ताप और सीमित चेतना के सारे बन्धन खुल जाते हैं। बुद्धि इस प्रभाव को ग्रहण करने में असमर्थ है। किन्तु इसी प्रभाव को उत्पन्न करना कला का अभिप्राय होता है।

संगीत में ही क्यों, नृत्य, चित्र, मूर्ति या भवन आदि के प्रेक्षण में जब कभी मन भाव-प्रवण होता है, तब मानो वह अपनी 'जड़ता' से मुक्त होकर पिघल जाना चाहता है, और चेतना के विशाल द्वारों को खोल कर सौन्दर्य को आत्मसात् कर लेने को प्रवृत्त होता है, अर्थात् मन के प्रभाव-ग्रहण करने की अवस्थाओं में, बुद्धि का अर्थ ग्रहण करके क्रियाएँ गौण व रसाधीन हो जाती हैं। कला की शक्ति का रहस्य ही यह है कि वह बुद्धि को तर्क, विचार के स्तर से ऊपर उठाकर रस-चेतना के आलोक से भर देती है। कला के अभिप्राय की सिद्धि का प्रमाण भी यही होता है।

अर्थ और अभिप्राय साहित्य व कला के आधार हैं। इनमें भेद किया जा

सकता है, किन्तु इन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता, क्योंकि ये बुद्धि और हृदय की भांति एक ही चेतना के दो प्रदेश हैं या एक ही अनुभूति के दो रूप हैं। इतिहास के विकास-क्रम में 'अर्थ' ने 'अभिप्राय' को आलोक प्रदान किया है और अभिप्राय ने अर्थ को हृदयद्रावक प्रभाव दिया है। साहित्य और कला का बड़ा स्वाभाविक संयोग हुआ है जिससे कला का द्रावक प्रभाव 'अर्थ' से आलोकित होकर रसिक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व से ग्रहण करने योग्य हुआ है, और, साहित्य का 'अर्थ' समर्थ होकर हृदय-ग्राह्य हो सका है। कला अपने प्रभाव की समृद्धि के लिये 'अर्थ' का उपयोग कई प्रकार से करती है : क—अपने प्रभाव में 'अर्थ' को जोड़ देने से वह 'अखिल बुद्धि समास्वाद्य' हो जाता है। इस प्रकार कला में बुद्धि का विलय नहीं होने पाता, वरन् वह अपनी क्रियाओं से कला के अभिप्राय को और भी सफल बना देती है। जैसे, संगीत के स्वरविन्यास में, नृत्य की लय-गति में, चित्र की रेखा और रंगों की योजना में, हम किसी घटना या कथानक को जोड़ देते हैं, जैसे, राधा-कृष्ण का विरह, बुद्ध का गृह-परित्याग, जातक-कथाएँ आदि। ख—'अर्थ' स्वयं अपना हृदय-द्रावक प्रभाव रख सकता है। महान् 'अर्थ' का प्रभाव वही हो सकता है जो स्वर, वर्ण, रूप आदि कला के उपकरणों का होता है। कला अर्थ का प्रयोग अपनी प्रभाव-वृद्धि के लिये कर सकती है। संगीत, भवन या चित्र आदि में महान्, उदात्त, चेतना के गंभीर प्रदेशों से उद्भूत अर्थों को अभिव्यक्त कर देने से, अर्थात्, स्वर, वर्ण आदि के माध्यम से अर्थलोक को साकार कर देने से, कला का स्वकीय 'अभिप्राय' सफल हो जाता है। अब एक कला अपने 'विशुद्ध' रूप में यद्यपि अर्थवती नहीं होती, तथापि जहाँ तक 'अर्थ' के द्वारा उसका अपना अभिप्राय समर्थ और सफल होता है, वहाँ तक वह उसे आत्मसात् करती है।

साहित्य की मूर्ति शब्दार्थ है। किन्तु इसका विस्तार और वैविध्य अमेय है। एक ओर केवल अर्थ-प्रधान, केवल बुद्धि-ग्राह्य, वैज्ञानिक साहित्य हो सकता है, जिसमें कोई 'प्रभाव' उत्पन्न करने की चेष्टा नहीं होती। शब्द-रचना अर्थ के अधीन होती है, केवल अर्थ की सुस्पष्ट अभिव्यक्ति के

लिए, जिसमें कला का कोमल, मधुर स्पर्श नहीं होता। तर्क, प्रमाण, विचार आदि द्वारा निष्कर्षों की प्रतिष्ठा की जाती है, और इसे यथासंभव 'शुष्क' रखा जाता है। इसमें मीमांसा की प्रधानता है। किन्तु वैज्ञानिक साहित्य भी यदा-कदा सरस और हृदय-ग्राही होना चाहता है; न केवल सरसता के लिए, अर्थों के स्पष्टीकरण व ग्राह्यता के लिये भी साहित्य कला के प्रभाव का उपयोग करता है। यहाँ से आगे, साहित्य ज्यों-ज्यों अपने अभिव्यंग्य अर्थ को सरस, मधुर और हृदय-ग्राही बनाने का प्रयत्न करता है, उसमें स्वभाव से ही कलात्मकता आने लगती है। कथानक, आख्यायिका, गल्प, उपन्यास आदि में 'अर्थ' रहता है, क्योंकि जहाँ शब्द है, वहाँ अर्थ भी है, और, इनमें कुशल साहित्यकार शब्दार्थ की मूर्तियों का सृजन करता है, अद्भुत लोगों और घटनात्मक वृत्तों तथा विलक्षण वीर और वीरांगनाओं को प्रस्तुत करता है। किन्तु इन शब्दार्थ-गठित मूर्तियों में शनैः-शनैः कलात्मक प्रभाव की वृद्धि होती चली जाती है; बुद्धि को नूतन आलोक और हृदय को मधुर रसों की उपलब्धि होती है। आगे चल कर, नाटक और कविता में तो कलात्मक उद्देश्य प्रधान हो जाता है, यहाँ तक कि शब्दार्थ का प्रयोग भी साहित्यकार उसी प्रकार करता है जैसे चित्रकार रंगों और रेखाओं का, गायक स्वरों का, इत्यादि। साहित्य के इन रूपों में, अर्थ और अभिप्राय का ऐसा सम्मिश्रण है कि इन्हें अलग समझना कठिन होता है। कविता में संगीत का माधुर्य, लय आदि, मूर्ति, चित्र, स्थापत्य आदि के सभी गुण रहते हैं। इन गुणों में 'अर्थ' ऐसा लिपटा रहता है, जैसे अनेक रंगों वाले बादलों में विद्युत् का आलोक। कविताओं में भी विकास होते-होते गीति (Lyrics) में, अर्थ स्वयं कलात्मक 'अभिप्राय' के अधीन हो जाता है। इसमें ऐसे अर्थों का उपयोग किया जाता है कि इनका आलोक विस्फोट की भाँति फैलता है, और पाठक के मन में रस के उन स्रोतों का संचार करता है जो संगीत, चित्र आदि द्वारा होता है। संक्षेप में साहित्य-क्षेत्र का एक विशाल प्रदेश ऐसा है जो अर्थ से निर्मित होने पर भी कलात्मक उद्देश्य को मुख्यता प्रदान करता है।

कला और साहित्य की मीमांसा करते समय हमें अर्थ और अभिप्राय, इन दो तत्त्वों पर ध्यान देना चाहिए। ये दोनों भिन्न समझे जाने पर भी कला और साहित्य की कृतियों में पृथक् नहीं किये जा सकते। इनमें तारतम्य की सम्भावना हो सकती है : कला के विशुद्ध रूप में अर्थ का अभाव, और, प्रभाव के हृदय-ग्राह्य अभिप्राय का प्राचुर्य। कलाओं में शनैः-शनैः अर्थ ग्रहण, जैसे संगीत का वह रूप जिसे गीत (Song) कहते हैं, अर्थ की प्रचुरता रहती है। इसी प्रकार साहित्य में भी क्रमशः अभिप्राय की वृद्धि हो सकती है।

